जैन भारती

वर्ष 53 • अंक 1 • जनवरी, 2005

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan) • Ludhiana (Punjab)

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 53 • जनवरी, 2005 • अंक 1

विमर्श

9
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
लोकतंत्र के फलित : एक अनुचिंतन

13
कृष्णदत्त पालीवाल
परंपरा में ही है हमारी जड़ें

16
साध्वी गवेषणाश्री
कर्म और कर्मबंधन : एक विवेचन

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

23
चतरसिंह मेहता
जैन भारती : आधे दशक की तीर्थयात्रा

35
मुनि धर्मचंद 'पीयूष'
लोकसत्तात्मक राष्ट्र का आधार

37
कहानी
रमेशचंद्र शाह
आत्म-ज्ञान की देहरी पर

42
कविता
नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
उद्यम, पुरुषार्थ और नैतिकता

शीलन

45
स्वामी विवेकानंद
जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा

49
मुनि गिरीशकुमार
ध्यान और ध्वनि : ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण

51
बालकथा
शिवसहाय चतुर्वेदी
बात लाख टके की

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

यह किसने देखा?

किसी समय केलवा में ठाकर मोखमसिंहजी ने पूछा—'आप भविष्य और अतीत का लेखा-जोखा बतलाते हैं। वह किसने देखा है?'

तब स्वामीजी बोले—'तुम्हारे बाप, दादे और परदादे हुए। तुम उन पीढ़ियों के नाम और उनकी पुरानी बातें जानते हो, वो सब किसने देखे हैं?'

तब ठाकर बोले—'बहीभाटों की पोथियों में पुरखों के नाम और बातें लिखी हुई हैं उनके आधार पर जानते हैं।'

तब स्वामीजी बोले—'बहीभाटों के झूठ बोलने का त्याग नहीं है। उनकी लिखी हुई बातों को भी तुम सच मानते हो, तब फिर ज्ञानी पुरुषों द्वारा कहे हुए शास्त्र असत्य कैसे होंगे? वे सत्य ही हैं।'

यह सुन ठाकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—'आपने बहुत अच्छा समाधान किया।'

मेरी सामर्थ्य इतनी ही है

ढुंढाड़ (जयपुर राज्य का एक प्रदेश) के एक गांव में स्वामीजी पधारे। वहां के जागीरदार ने स्वामीजी के चरणों में अठन्नी के टक्के रखे। स्वामीजी बोले—'हम तो टक्के-पैसे नहीं लेते।'

तब जागीरदार बोला—'आप मोहर लायक हैं, पर मेरी सामर्थ्य इतनी ही है। अगली बार आप पधारेंगे तब पूरा रुपिया भेंट करूंगा।'

तब स्वामीजी बोले—'हम तो रुपये, मोहर आदि कुछ भी नहीं रखते।'

यह सुन जागीरदार बहुत खुश हुआ। वह गुणगान करने लगा—'आपकी करणी धन्य है।' •

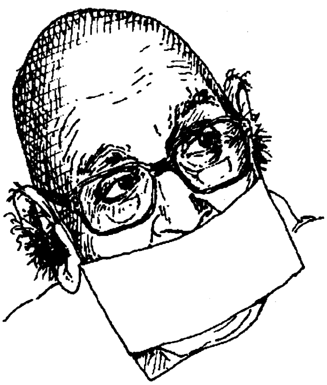

धर्म का स्वरूप समता है। विषमता उसका आधार नहीं हो सकती। सब आत्माएं समान हैं, सुख-दुख की अनुभूति सबको होती है, अपना किया कर्म सबको भुगतना होता है। अपने संयम से ही व्यक्ति मुक्त होता है—यह समता का विचार है। किसी जीव को मारने का अर्थ है—अपनी हिंसा और किसी को न मारने का अर्थ है—अपनी दया। जो अपनी दया करता है, वह किसी की हिंसा नहीं करता और दूसरे प्राणी को दयनीय मानकर दया की जाए, वह समता नहीं है। अहिंसा और हिंसा का संबंध जीने और मरने से नहीं है। आचार्य भिक्षु ने कहा—जीव जीते हैं, यह दया या अहिंसा नहीं है। जीव मरते हैं, वह हिंसा नहीं है। जो मारता है वह हिंसक है, मारना हिंसा है। जो नहीं मारता वह अहिंसक है, नहीं मारना अहिंसा है। इस धर्म को उन्होंने लोकोत्तर धर्म या आध्यात्मिक धर्म कहा।

—आचार्यश्री तुलसी

शब्द जड़ है, पर जड़ के प्रभाव से इनकार नहीं किया जा सकता। एक शब्द व्यक्ति को उत्तेजित कर देता है और एक शब्द उत्तेजनापूर्ण वातावरण को शांति में बदल देता है। एक शब्द इष्ट के साथ तादात्म्य स्थापित करा देता है। जप का प्रयोग शब्द की शक्ति का ही एक उदाहरण है। अपेक्षा है—जप का प्रयोग अर्थ की अनुप्रेक्षा के साथ तन्मय-तल्लीन होकर किया जाए।

साधना का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—वाणी-संयम। यह देवों के मन को आकृष्ट करने वाला प्रयोग है। यद्यपि हमारी भाषा संपर्क का माध्यम है, लेकिन अनावश्यक भाषा का प्रयोग शक्ति के अपव्यय का कारण बनता है। इसलिए वाणी का प्रयोग विवेकपूर्ण होना चाहिए।

साधना का एक प्रयोग है निद्रा-संयम। नींद शरीर की और स्वास्थ्य की अनिवार्य शर्त है। जो व्यक्ति विचाररहित होकर स्थिरता, शिथिलता व दीर्घश्वास के प्रयोगों के साथ सोता है, उसके लिए निद्रा भी साधना बन जाती है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

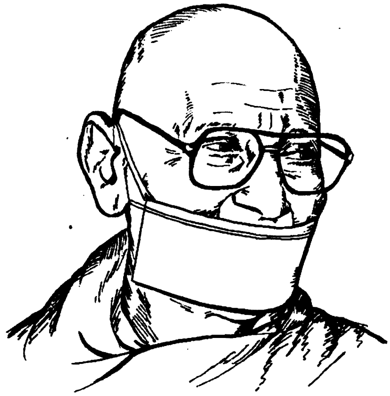

सत्य की खोज का अर्थ है नियमों की खोज। नियमों की खोज ही सत्य की खोज है। वैज्ञानिक पहले नियम खोजता है, फिर नियम की खोज के आधार पर आगे का कार्य करता है। धर्म के क्षेत्र में कहा गया—नियमों की खोज करो। जैन दर्शन ने नियमों को खोजा है और नियमों का काफी विस्तार भी किया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये चार दृष्टियां जैन दर्शन में ही उपलब्ध हैं, अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हैं। उत्तरकाल में जैनाचार्यों ने इनका विकास किया। चार आदेशों के स्थान पर पांच समवायों का विकास हुआ है—स्वभाव, काल, नियति, पुरुषार्थ, भाग्य या कर्म। ये पांच समवाय चार दृष्टियों का विकास है। इन पांच समवायों को समाहित किया जाए तो ये सारे चार दृष्टियों में समाहित हो जाते हैं। अगर विभक्त किया जाए तो ये पांच उत्तरवर्ती दृष्टियां और चार पूर्ववर्ती दृष्टियां—नौ नियम प्रस्तुत होते हैं। इन दृष्टियों के द्वारा समीक्षा करके ही किसी सचाई का पता लगाया जा सकता है, किसी घटना की समीक्षा या व्याख्या की जा सकती है। इसके बिना एकांगी दृष्टिकोण से वास्तविकता का पता नहीं चलता, धारणाएं पनप सकती हैं।

सम्यक् दर्शन का सिद्धांत नियमों के बिना नहीं चल सकता। तत्वज्ञान के विषय में दृष्टिकोण का सम्यक् होना आवश्यक है। प्रत्येक घटना और वस्तु के बारे में भी व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् होना चाहिए, एकांगी नहीं होना चाहिए।

एकांगीवाद और मिथ्या एकांतवाद से बचने के लिए नियमवाद का सिद्धांत बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसकी घटनाओं के साथ व्याख्या करें, जीवन-संदर्भ के साथ व्याख्या करें तो नियमवाद का एक उदात्त पक्ष उजागर हो सकता है। जीवन-संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में हम इस पर थोड़ा विचार करें।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

उद्यम, पुरुषार्थ और नैतिकता

उद्यमशीलता प्रत्येक मनुष्य का गुण है और जब भी इस पर विचार होता है तो उसे इस सकारात्मक रूप में ही देखा जाता है कि उद्यम और नैतिकता के बीच अन्योन्याश्रित संबंध है। अतः उद्यम और नैतिकता को अलग-अलग रख कर विचार करने की आवश्यकता ही क्यों होनी चाहिए? अगर किसी में उद्यमशीलता है तो नैतिकता उसमें लाजिमी तौर पर है ही, अन्यथा उद्यम या उद्यमशीलता न कह कर ऐसी प्रवृत्ति को हमें उद्दंडता या अराजकता ही कहना होगा। जो सम-सामयिक परिस्थितियां हमारे सामने हैं, उनके चलते यह प्रश्न उपस्थित होता ही है कि नैतिकता के प्रश्न को 'उद्यम' के परिप्रेक्ष्य में पृथक् से विचारणीय मानना जरूरी हो जाता है। 'उद्यम' के शब्दार्थ को भी यदि देखें तो यह अनिवार्य हो जाएगा कि उद्यम और नैतिकता पर हम साथ-साथ विचार करें। शब्दकोश में 'उद्यम' के अर्थ—प्रयास, प्रयत्न, उद्योग, मेहनत, काम-धंधा, व्यापार-व्यवसाय आदि-आदि हैं। इन अर्थों को देखते हुए 'उद्यम और नैतिकता' आज अन्योन्याश्रित नहीं माने जा सकते। व्यापार-व्यवसाय हो या उद्योग, हम पाते हैं कि इनमें नैतिकता बमुश्किल ही नजर आएगी। उद्यम का अर्थ मेहनत, परिश्रम या प्रयत्न तक ही सीमित रखें और झांकें तो इनमें भी नैतिकता के तत्त्व बमुश्किल ही दिखाई देंगे। स्पष्ट है कि किसी का उद्यमी या उद्यमशील हो जाना उसके नैतिक होने की गारंटी नहीं हो सकता।

पुरुषार्थ की बात को भी इसी तरह देखना चाहिए। हर कार्य पुरुषार्थ मांगता है, पर हर कार्य रचनात्मक या सकारात्मक ही हो, यह जरूरी नहीं। नकारात्मक या विध्वंसात्मक काम भी तो काम ही हैं और पुरुषार्थ के तत्त्व वहां भी विद्यमान हैं। पर ऐसे कार्यों में होने वाला पुरुषार्थ कभी स्वीकार या मान्य नहीं हो सकता। सामान्य तौर पर व्यक्ति पुरुषार्थ करता है, हर व्यक्ति को पुरुषार्थी होना ही चाहिए—यही कहा जाता है। यह अलहदा प्रश्न है कि पुरुषार्थ का फल क्या निकलता है। जिस कार्य के लिए पुरुषार्थ किया जाता है, उसकी प्रकृति में ही उसकी परिणति निहित है। पुरुषार्थ किसी विध्वंस अथवा नकारात्मक काम के लिए भी हो सकता है और ऐसा होते हुए हम लगातार देख भी रहे हैं और ऐसा पुरुषार्थ कभी भी मान्य नहीं हो सकता। अतः पुरुषार्थ की नैतिकता भी विचारणीय है।

जीवन के अलग-अलग रूपों को सामने रखकर इन पक्षों पर विचार करना चाहिए। व्यापार-व्यवसाय, काम-धंधा अथवा सार्वजनिक कार्य-व्यापार—सभी में उद्यम और पुरुषार्थ अनिवार्य है। एक व्यक्ति आम-उपभोक्ता वस्तुओं का व्यवसाय करता है और उसका काम निरंतर ऊंचाइयां छू रहा है। जाहिरा तौर पर उसकी उद्यमशीलता या पुरुषार्थ फलदायी प्रतीत होता है, पर जिन उपभोक्ता-वस्तुओं का व्यवसाय वह करता है, उनमें मिलावट से लेकर माप-तौल में कमी-बेसी किए बिना वह नहीं रहता। यही व्यवसाय की उन्नति का आधार है और अक्सर यह सुना भी जाता है कि व्यापार-व्यवसाय में यह सब तो होता ही है। किसी व्यावसायिक सफलता का आधार भी यही मान लिया जाता है।

मिलावट या माप-तौल में कमी-बेसी को नैतिक नहीं कहा जा सकता। यह तो घोर अनैतिक कार्य है। अनैतिकता के बल पर सफलता और सामाजिक प्रतिष्ठा हासिल हो गई और प्रकारांतर से

सामाजिक मान्यता भी मिल गई, लेकिन यह मान्यता अनैतिक धरातल पर ही टिकी होती है जो मिट्टी के घरोंदे की मानिंद कभी भी ध्वस्त हो सकती है। ऐसा होते हुए हम समाज में निरंतर देखते भी हैं।

स्पष्ट है कि उद्यम, उद्यमशीलता और पुरुषार्थ के साथ नैतिकता की बात स्वतंत्र रूप से विचारणीय है। यह भी स्पष्ट है कि नैतिकता की कसौटी पर खरा उतरने वाला पुरुषार्थ, उद्यम या उद्यमशीलता ही चिरस्थाई तौर पर मान्य हो सकते हैं। यही सर्वजनहिताय है और इस तरह स्वहित भी नैतिकतायुक्त उद्यम में ही है। सभी प्रकार के काम-धंधों—मसलन चिकित्सा, शिक्षण, अंकेक्षण, विधि-न्याय और तकनीकी—में उद्यम और पुरुषार्थ निहित हैं और यदि उनमें नैतिकता नहीं है तो उसे सर्वजनहिताय नहीं कहा जा सकता। टिकाऊ स्वहित सदा सर्वजनहिताय से ही सिद्ध हो सकता है।

किसी भी उद्यम या पुरुषार्थ की सफलता की कसौटी यह नहीं होनी चाहिए कि वह आर्थिक तौर पर कितना सुदृढ़ है, न ही आर्थिक सुदृढ़ता सामाजिक प्रतिष्ठा का मानक होना चाहिए। जिस तरह एक व्यक्ति की विशिष्टता उसके आचरण में निहित है, न कि उसके कर्मकांड या पूजा-पाठ में। ठीक इसी तरह किसी भी उद्यम या पुरुषार्थ की कसौटी उसकी आर्थिक सुदृढ़ता से नहीं, अपितु इस बात से आंकी जानी चाहिए कि उसके ऐसे कर्म से किसी का अहित तो नहीं हो रहा। व्यवसाय या किसी भी कार्य (प्रोफेशन) में उपस्थित प्रतिस्पर्धा में नैतिकता बनाए रखना ही सफलता की कसौटी माना जा सकता है।

नैतिकता ही टिकाऊ और स्थाई हो सकती है। सिद्धांत रूप में तो इसे सभी स्वीकार करते हैं, पर व्यवहार पर उतरते हुए न जाने क्यों फिसल जाते हैं? इस फिसलन के कारणों को तलाशना जरूरी है। एक कारण तो यही नजर आता है कि तात्कालिक उपलब्धि के मोह से हम मुक्त नहीं हो पाते। लगता है कि थोड़ा-सा असत्य तत्काल समाधानदायी है तो इसका सहारा ले लो। कक्षा में एक विद्यार्थी को किसी बात पर शिक्षक फटकार लगाता है और छात्र बचाव के लिए झूठ का सहारा लेकर तत्काल अपना बचाव कर लेता है। दुर्भाग्य से इसमें न छात्र को कुछ अनैतिक लगता है और न उन लोगों को, जिनके बाल पक कर परिपक्व हो गए हैं। कई बार तो अपने सपूतों के ऐसे कर्म को गर्व से सराहा भी जाता है कि किस तरह युक्ति लगाई कि बचाव हो गया। यह तात्कालिक लाभ ही धीरे-धीरे स्वभाव का अंग बनता चला जाता है और सुदीर्घ जीवन-व्यापार में इस तरह हम बेभान हो रहते हैं। कब, कितने, कहां, किस तरह से हम अनैतिक होते रहते हैं—भान ही नहीं रहता। अक्सर हम अपनी शान भी इसी में मानते हैं कि अपने बुद्धि-चातुर्य के बल पर किस तरह किसी को चकमा देने में सफल हो गए। यह बुद्धि-चातुर्य नहीं है। यह तो धूर्तता है और सामाजिक स्तर पर इस प्रवृत्ति के व्यापक और दीर्घकालिक असर होते हैं। समाज में व्याप्त विसंगतियों, विषमताओं और विकृतियों के प्रभाव हम देख ही रहे हैं। इसीलिए किसी भी उद्यम, उद्यमशीलता और पुरुषार्थ को बिना नैतिकता से आवृत किए और कसौटी पर कसे उसे महिमामंडित नहीं किया जाना चाहिए। जब तक ऐसी सफलताओं को सामाजिक स्तर पर निष्ठुरतापूर्वक देखा-परखा नहीं जाता, मान्य नहीं किया जाना चाहिए। एक नैतिक समाज के निर्माण की यह अनिवार्य शर्त है कि हम उपलब्धियों और सफलताओं का मानदंड केवल आर्थिक सुदृढ़ता तक सीमित करके न देखें, यह भी देखें कि उस सुदृढ़ता को हासिल करते हुए कोई कितना नैतिक रह सका।

अपने जीवन-व्यवहार में किसी के नैतिक रहने का निर्धारण किस तरह हो, कौन करे? व्यक्तिशः तो यह कसौटी अपनी ही होनी चाहिए, पर सामाजिक स्तर पर इसकी स्वीकृति तो समाज ही देता है। तब प्रश्न उपस्थित होगा कि कोई समाज पूरी तरह से नैतिक है अथवा अनैतिक—इसकी कसौटी क्या हो? हमारा ध्यान बरबस तब धर्म-संस्थाओं की ओर जाता है। यह जानते हुए भी कि कोई भी धर्म जब-जब सत्ता प्रतिष्ठान (संस्था) का रूप ग्रहण करने लगता है तो विकृतियों का खतरा भी प्रतीत होने लगता है, तथापि भारतीय समाज में धर्म के प्रति अभी भी सर्वाधिक आकर्षण और श्रद्धा है—यह सचाई है। अतः समाज के नैतिक बने रहने की कसौटी न केवल धर्म-संस्थान होने चाहिए, समाज को नैतिक बनाए रखने के दायी भी धर्म-संस्थान ही हैं और यह अहसास उनको निरंतर रहना चाहिए।

निष्कर्षतः धर्म-संस्थानों की नैतिकता, फिर समाज और फिर निजी रूप में व्यक्ति कितना नैतिक है—कसौटी का क्रम इसी तरह निर्धारित किया जा सकता है।

कसौटी का क्रम कुछ भी रहे, नैतिकता परमावश्यक है—यह सर्वमान्य मत है। कोई भी उद्यम हो या कि पुरुषार्थ—उसका सर्वजनहिताय उसकी नैतिकता में ही है।

—शुभू पटवा

विमर्श

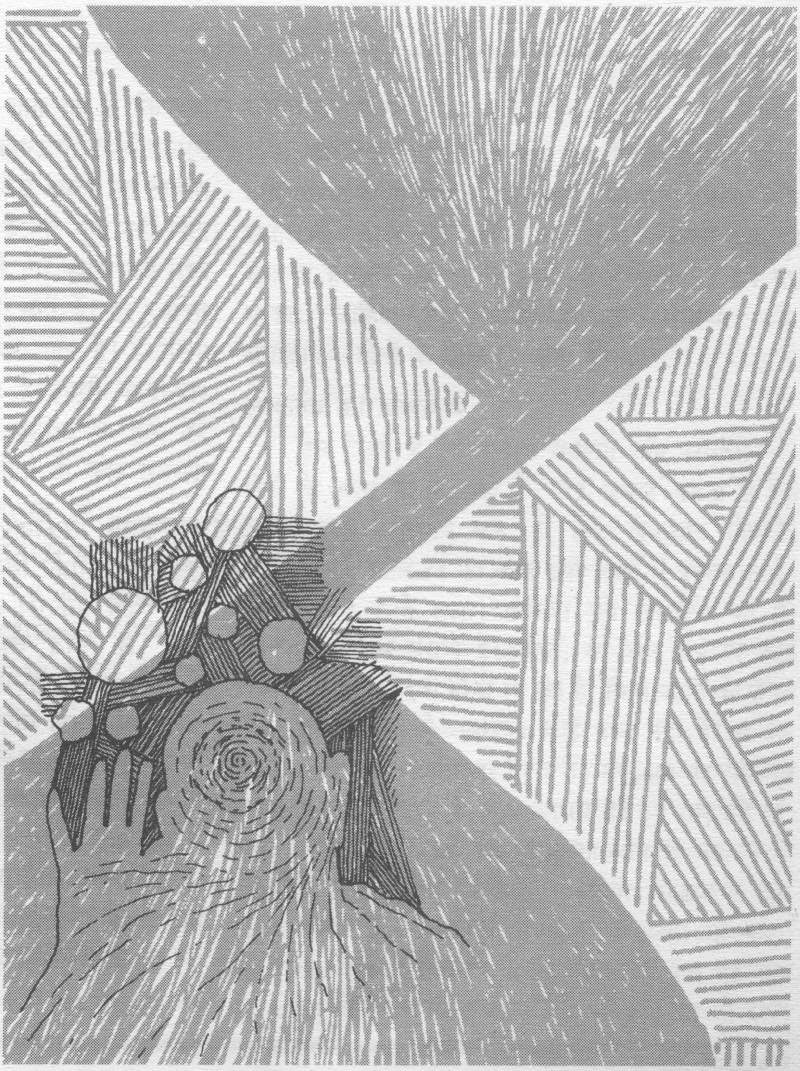

एक विकासशील देश की मूल समस्याएं केवल तकनीकी विशेषज्ञता या ज्ञान से नहीं सुलझाई जा सकतीं। उन्हें सबसे अधिक जरूरत है, देश के प्रति और शिक्षा के प्रति वचनबद्धता; सामाजिक-आर्थिक और शैक्षिक रूपान्तरण की सही परिकल्पना और उसे प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प। हमारा यह अनुभव रहा है कि एक नए समाज और शिक्षा की परिकल्पना और उसे साकार करने के प्रयत्न की नैतिक प्रतिबद्धता का हमारे अध्यापकों, विद्यार्थियों और शैक्षिक प्रशासकों में अभाव है। इसीलिए वे परिवर्तन प्रेरकों की भूमिका नहीं निभा सके।

—जे. पी. नाईक

स्वतंत्रता का आधारभूत पहलू है—संयम। उसकी उपेक्षा कर लोकतंत्र ने स्वतंत्रता को महत्त्वाकांक्षा के रूप में बदल दिया। एक मनोवैज्ञानिक और अर्थशास्त्री महत्त्वाकांक्षा को बुरा नहीं मानते, वे विकास के लिए उसे आवश्यक मानते हैं। पर, यदि महत्त्वाकांक्षा और क्षमता का संतुलन न हो तो कोरी महत्त्वाकांक्षा क्या मनुष्य को गलत रास्ते की ओर नहीं ले जाएगी? आज की राजनीति ने महत्त्वाकांक्षा के सूत्र को पकड़ा है और क्षमता के सूत्र की उपेक्षा की है। इसीलिए वर्तमान राजनीति राष्ट्र की समस्याओं को सुलझाने की दिशा में प्रस्थान नहीं कर रही है। उसका प्रस्थान सत्ता की कुर्सी की ओर हो रहा है

लोकतंत्र के फलित : एक अनुचिंतन

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

— गणतंत्र दिवस — पर विशेष

इस दुनिया की एक विशेष बात यह है कि यहां परिपूर्ण कोई नहीं है। यदि मनुष्य या पदार्थ परिपूर्ण होता तो 'समस्या' और 'समाधान' जैसे शब्दों का निर्माण ही नहीं होता। पानी प्यास बुझा देता है, पर भूख नहीं मिटा सकता और रोटी भूख मिटा सकती है, पर प्यास नहीं बुझा सकती। किसी एक में दोनों शक्तियां नहीं हैं। हर व्यक्ति और हर पदार्थ एक-एक काम ही कर पाता है। इसीलिए हमारा जीवन सापेक्ष है और सापेक्ष है हमारी व्यवस्था। अगर शासक सब-कुछ कर दे तो शासित के होने की जरूरत नहीं। यदि व्यक्ति अकेला होता तो कोई समस्या नहीं होती और न समाधान की जरूरत ही होती। पर, अकेला रहने वाला भी क्या समस्या से मुक्त है? अकेले में भी सुख कहां है? जब तक व्यक्ति अहमिंद्र बनकर उत्कृष्ट सुख की भूमिका में नहीं पहुंच जाता तब तक अकेला रहना भी दुखतर ही रहता है।

मस्तिष्क के दो केंद्र हैं। एक है सुख का केंद्र और एक केंद्र है दुख का। जैन दर्शन की भाषा में यह कहा जा सकता है कि एक केंद्र सातवेदनीय है और एक केंद्र है असातवेदनीय। कल्पना करें कि आदमी अकेला बैठा है और उसका ध्यान व्यथा के केंद्र पर केंद्रित हो गया है, वह दुख से भर जाएगा। जाहिर है कि अकेला होने से भी समस्या का समाधान नहीं है। दो होने में भी समस्या का समाधान नहीं है।

जब तक अपूर्णता है, जब तक शिव, अचल, अमर और अरुज वाली स्थिति नहीं बनती, तब तक समस्या और समाधान—दोनों बातें साथ-साथ चलेंगी। तंत्र का होना भी समस्या है और तंत्र का न होना भी समस्या है। हमें यह मानना चाहिए कि जीना है तो समस्या और समाधान—दोनों के बीच ही जीना है।

लोकतंत्र का प्राणतत्त्व

हम देखते हैं कि मनुष्य समस्या और समाधान—दोनों के बीच में जी रहा है। वह प्रयत्न करता है कि समस्याएं कम हों और समाधान निकलें। लोकतंत्र का उदय इसी दिशा में प्रयत्न करते-करते हुआ। वर्तमान युग लोकतंत्र का है। लोकतंत्र में सब समान हैं। जाति, रंग और संप्रदाय कोई बाधा नहीं है। आदमी किस रंग का है, किस जाति का है या किस संप्रदाय का है—इसका कोई प्रश्न नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार प्राप्त हैं। समानता का यह सूत्र लोकतंत्र का प्राणतत्त्व है, मूल आधार है। पूर्व राष्ट्रपति डॉ. एस. राधाकृष्णन ने कहा कि आज का लोकतंत्र महावीर के सिद्धांतों पर आधारित है। कैसे? अनेकांत सिद्धांत के चार मुख्य फलित हैं—स्वतंत्रता, सापेक्षता, समानता और सह-अस्तित्व। ये चारों लोकतंत्र के सिद्धांत भी हैं। तब यह कहा जा सकता है कि भगवान महावीर ने अनेकांत का जो दर्शन

दिया, आज लोकतंत्र में सामाजिक-राजनीतिक रूप में वह फलित हो रहा है। दरअसल अनेकांत तत्त्वज्ञान का दर्शन है, पर उसका व्यावहारिक रूप— सामाजिक और राजनीतिक प्रणाली में देखा जा सकता है।

भगवान महावीर का जन्म राजतंत्र की परंपरा में नहीं हुआ था। उनका जन्म गणतंत्र की परंपरा में हुआ था। ऐतिहासिक दृष्टि से गणतंत्र की परंपरा के प्रभाव को अस्वीकार कैसे करें? हमें स्वीकार करना होगा कि गणतंत्रीय परंपरा का प्रभाव भगवान महावीर पर था। यही गणतंत्र आज की भाषा में लोकतंत्र है। इसके सिद्धांत वे ही हैं, जो अनेकांत के हैं और ये ही लोकतंत्र के हैं।

समानता

जैन दर्शन ने समानता का सिद्धांत प्रभावी रूप से प्रस्तुत किया। प्रत्येक प्राणी समान है। लोकतंत्र का आधारभूत सिद्धांत भी यही है कि प्रत्येक नागरिक समान है। जहां भी समानता के इस सिद्धांत का अतिक्रमण होता है, वहां विरोध और विद्रोह की स्थिति बन जाती है। यह समस्या है कि व्यक्ति दूसरे के अधिकार को मान्यता नहीं देना चाहता। जहां ऐसी स्थिति व्यापक स्तर पर है, वहां लोकतंत्र विकसित नहीं हो सकता। जहां असमानता प्रबल है, वहां असहिष्णुता को पनपने का अवसर मिलता है और जब असहिष्णुता का भाव प्रखर हो जाता है तो मानवीय संबंध बिखरने लगते हैं। मानवीय संबंधों का ऐसा बिखराव लोकतंत्र के स्वास्थ्य को लील जाता है। जहां समानता है, वहां सहिष्णुता भी है। जहां सह-अस्तित्व है, वहां भी सहिष्णुता है। सहिष्णुता का विकास समानता की चेतना के उन्नयन से ही संभव है।

लोकतंत्र को आज इसीलिए महत्त्व मिला कि उसमें समानता का सिद्धांत प्रतिष्ठित है। प्रत्येक व्यक्ति समानता में रहना पसंद करता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को प्रिय है। जहां थोड़ी भी असमानता आती है, चित्त में उद्वेग और विक्षोभ पैदा हो जाता है। इसीलिए समानता को लोकतंत्र का आधार माना गया है।

इतना होते हुए भी लोकतंत्र परिपूर्ण नहीं है। परिपूर्ण निरपेक्ष अवस्था में ही हो सकता है। आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। वे परिपूर्ण हैं, किंतु आत्मा मनुष्य बन जाए तो वह परिपूर्ण नहीं, क्योंकि वह सापेक्ष है। जो असंख्य प्रदेश हैं, वे निरपेक्ष हैं, वही आत्मा की सत्ता है। वेदांत का ब्रह्म निरपेक्ष है—परिपूर्ण है। किंतु माया और प्रपंच परिपूर्ण नहीं हो सकते। जहां परिपूर्णता नहीं है, वहां समस्या और समाधान—दोनों साथ-साथ चलेंगे।

लोकतंत्र की समस्या

लोकतंत्र की अपनी समस्याएं भी हैं। सबसे पहली समस्या है—अक्षमता का शासन। लोकतंत्र की प्रकृति में एक ऐसी बात आ गई कि समानता की बात होते हुए भी वह संख्या पर अधिक केंद्रित है और गुणवत्ता पर कम। लोकतंत्र में इस पर ध्यान केंद्रित नहीं होगा कि सब गुणवान ही आएं, यही प्रबल मत होगा—संख्या में सबसे ज्यादा हों। मसलन दो उम्मीदवार खड़े हो गए। एक चरित्रवान है, गुणवान है, अनैतिक तरीके काम में नहीं लेता है, न झूठे आश्वासन देता है और दूसरा हर तरह की तिकड़म जानता है। वोट जुटाने की तिकड़म में सक्षम है, उसे ज्यादा मत मिलेंगे और वह लोकतंत्र का रक्षक बन जाएगा। जहां संख्या को अधिक महत्त्व मिलता है, जहां गुणवत्ता को अधिक महत्त्व नहीं मिलता—वहां अक्षम व्यक्ति भी मुख्य हो जाता है। दस सक्षम व्यक्ति पूरे शासन को ठीक चला सकते हैं, किंतु सौ अक्षम आदमी सुशासन नहीं दे सकते। लोकतंत्र के साथ अक्षमता का जो अभिशाप जुड़ा हुआ है, वह वास्तव में संख्या के महत्त्व का प्रतिफल है, यह लोकतंत्र की एक दुर्बलता है, यही समस्या है।

विकेंद्रित उत्तरदायित्व

लोकतंत्र की दूसरी कठिनाई यह है कि किसी समस्या के संदर्भ में निर्णय लेना हो तो वह पांच मिनट में नहीं लिया जा सकता है। निर्णय लेते-लेते समय बीत जाता है और किसी पर उत्तरदायित्व स्थापित नहीं किया जा सकता कि तत्पर निर्णय के लिए दोषी कौन है। लोकतंत्र की यह भी एक समस्या है।

भ्रष्टाचार

लोकतंत्र में भ्रष्टाचार के लिए कोई अवकाश नहीं होना चाहिए, पर काफी अवकाश है। आश्वासनों के आधार पर वोट लिए जाते हैं। मतदाताओं को खुश करने के लिए ऐसे काम करने लग जाते हैं जो करणीय नहीं होते। इससे भ्रष्टाचार को पनपने का मौका मिलता है।

समस्या और समाधान

वर्तमान में लोकतंत्र की ये बड़ी समस्याएं हैं। बावजूद इनके लोकतंत्र में ही बड़ा समाधान भी है और इसीलिए यह चल रहा है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह अवसर है कि यदि

वह अपनी योग्यता और क्षमता को बढ़ाए तो कहीं भी पहुंच सकता है। आज किसान का बेटा भी प्रधानमंत्री बन सकता है। एक हरिजन भी बड़े से बड़ा मंत्री बन सकता है, राष्ट्रपति बन सकता है। लोकतंत्र में यह एक बड़ा समाधान और आश्वासन है। परिवारगत परंपरा समाप्त हो गई। राजा का बेटा ही राजा बनेगा, यह परंपरा लोकतंत्र में नहीं चल सकती। लोकतंत्र का एक बड़ा अधिकार है कि कोई भी व्यक्ति बड़े से बड़े मंत्री या अधिकारी को न्यायालय में ले जा सकता है, उसे चुनौती दे सकता है। सामान्य व्यक्ति भी वरिष्ठ अधिकारी या मंत्री की आलोचना कर सकता है। उसके विरुद्ध अपना मंतव्य प्रकट कर सकता है।

मनुष्य की प्रकृति और लोकतंत्र

स्वतंत्रता, न्याय और समान अधिकार आदि ऐसे कारण हैं कि कुछ खामियों के उपरांत भी सबसे श्रेष्ठ शासन-प्रणाली कोई है, तो वह लोकतंत्रीय प्रणाली है। इसीलिए सारे विश्व में लोकतंत्र फैलता चला जा रहा है। यह लोकतंत्र की एक छोटी-सी मीमांसा है। यह केवल समाज-व्यवस्था की मीमांसा नहीं है, केवल राजनीतिक प्रणाली की मीमांसा नहीं है, यह मूल मानवीय प्रकृति की मीमांसा है। मनुष्य की जो मूल प्रकृति है, उसके साथ लोकतंत्र का मेल ज्यादा है। दूसरी भाषा में कहा जा सकता है कि यह महावीर के अनेकांतवाद सिद्धांत का विश्लेषण है। एक होता है दर्शन और एक होता है दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप। महावीर के दर्शन को लोकतंत्र में व्यापक रूप मिला है। उसमें अब जरूरत है व्यवस्था और अध्यात्म के योग की। यदि यह योग मिल जाए तो अहिंसा, सापेक्षता, शांति—ये तत्त्व अधिक विकसित हो सकते हैं। लोकतंत्र को चलाने वाले लोग अध्यात्म को अपने साथ जोड़ लें तो लोकतंत्र सोने में सुगंध बन जाएगा।

स्वतंत्रता और संयम

स्वतंत्रता मनुष्य का निसर्ग है। उसका समर्थन कर लोकतंत्र ने मनुष्य के मन को जीता है। स्वतंत्रता का आधारभूत पहलू है—संयम। उसकी उपेक्षा कर लोकतंत्र ने स्वतंत्रता को महत्त्वाकांक्षा के रूप में बदल दिया। मनोवैज्ञानिक और अर्थशास्त्री महत्त्वाकांक्षा को बुरा नहीं मानते, वे विकास के लिए उसे आवश्यक मानते हैं। पर, यदि महत्त्वाकांक्षा और क्षमता का संतुलन न हो तो कोरी महत्त्वाकांक्षा क्या मनुष्य को गलत रास्ते की ओर नहीं ले जाएगी? आज की राजनीति ने महत्त्वाकांक्षा के सूत्र को पकड़ा है और क्षमता के सूत्र की उपेक्षा की है। इसीलिए वर्तमान राजनीति राष्ट्र की समस्याओं को सुलझाने की दिशा में प्रस्थान नहीं कर रही है। उसका प्रस्थान सत्ता की कुर्सी की ओर हो रहा है।

राजनेता की अर्हता

विधानसभा और लोकसभा के सदस्यों की अर्हता के लिए चारित्रिक कसौटियां निर्धारित नहीं हैं। कार्यपालिका के क्षेत्र में हर व्यक्ति के लिए शैक्षिक कसौटियां निर्धारित हैं, किंतु विधायिका के लिए वे भी नहीं हैं। इतने बड़े राष्ट्र का संचालन करने वाले नेतृत्व का चरित्र यदि उदात्त न हो तो क्या उसके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की जा सकती है? अहिंसा में आस्था, अर्थ का संयम, अपने आवेशों पर नियंत्रण करने की क्षमता, सामाजिक न्याय के प्रति हार्दिक समर्पण, समन्वय और सापेक्षता का दृष्टिकोण, बौद्धिक क्षमता और मानसिक संतुलन—ये राजनेता के चरित्र के मुख्य तत्त्व हैं। इन्हें कसौटी बनाकर किसी राजनेता के चरित्र को परखा जा सकता है। इन कसौटियों पर खरा न उतरने वाला व्यक्तित्व क्या लोकतंत्र के लिए वरदान बन सकता है?

प्रत्येक मनुष्य में आर्थिक लोलुपता, प्रतिशोध की वृत्ति, मानसिक असंतुलन आदि दुर्बलताएं स्वाभाविक रूप में होती हैं। इनका परिष्कार करने पर ही चरित्र उदात्त बनता है। क्या लोकतंत्र के सारथियों ने इनके परिष्कार की किसी विधि का विकास किया है? हमारे देश में लोकतंत्र-प्रणाली चल रही है, पर क्या जन-मानस को लोकतंत्र की दीक्षा से दीक्षित किया गया है? क्या लोकतंत्र के सारथियों को रथ हांकने की विधि का कोई प्रशिक्षण दिया गया है? ऐसा कुछ नहीं हुआ।

प्रश्न है स्वतंत्रता के उपयोग का

लोकतंत्र के साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रत्यक्ष-परोक्ष में एक तरह से अनुबंधित है। राजतंत्र और अधिनायकवादी प्रणाली में उसकी संभावना नहीं है। लोकतंत्र ने स्वतंत्रता को मूल्य प्रदान किया है, किंतु इस विशेषता का उपयोग कम हो पाता है। आज भी जातीयता, सांप्रदायिकता आदि अनेक बंधनों से समाज के लोग जकड़े हुए हैं, इसलिए स्वतंत्रता का सही और पूरा उपयोग नहीं हो पाता। चुनाव के समय सिद्धांत नीचे दब जाते हैं। जातीयता और सांप्रदायिकता उभर कर ऊपर आ जाते हैं। जिस जातिवाद को वर्तमान परिस्थितियों में निष्प्राण हो जाना था, उसकी प्राण-ऊर्जा और अधिक बढ़ गई है। जिस सांप्रदायिक

कट्टरता को अर्थहीन हो जाना था, उसकी सार्थकता भी बढ़ी है।

लोकतंत्र का अंतर्द्वंद्व

दुर्भाग्य से लोकतंत्र की वास्तविक सत्ता आज जातिवाद, संप्रदायवाद और आर्थिक स्रोतों में आसीन है। यह संभव नहीं कि जिनके आशीर्वाद से कोई सत्ता पर आए और उनकी बात न माने। यदि न माने तो दूसरी बार सत्ता में आने की संभावना क्षीण हो जाती है। लोकतंत्र का ऐसा यह अंतर्द्वंद्व है, जिससे छुटकारा पाना सरल नहीं है। कोई विकल्प सामने आए तो अंतर्द्वंद्वात्मक परिस्थितियों से मुक्त होकर स्वस्थ समाज और स्वस्थ राजनीतिक प्रणाली की परिकल्पना की जा सकती है। हमें लोकतंत्र की इन समस्याओं को मिटाने की दिशा में चिंतन करना चाहिए। इस चिंतन का पहला बिंदु है—शिक्षा। शिक्षा का पहला दशक भूमि को ऊर्वर बनाता है। दूसरे दशक में बुआई होती है। तीसरे दशक में फसल निष्पन्न हो जाती है। आवश्यकता है प्रशिक्षण की, आवश्यकता है एकाग्रता की, आवश्यकता है धैर्य की। यह त्रिवेणी संगम ही लोकतंत्र की प्रणाली को परिष्कार दे सकता है।

लोकतंत्र ने सत्ता को इतना गतिशील बना दिया है कि वह जाति, संप्रदाय, गरीबी, अमीरी—इन सबसे परे, किसी भी योग्य व्यक्ति का वरण कर सकती है। यह लोकतंत्र के चरित्र का सबसे उजला पक्ष है, किंतु लोकतंत्र को चलाने वाले लोगों की योग्यता की कोई कसौटी अभी निश्चित नहीं हो पाई है। योग्यता की दो कसौटियां हो सकती हैं—चरित्र-बल और बौद्धिक क्षमता। पता नहीं क्यों, लोकतंत्र के साथ अभी इन दोनों कसौटियों का मैत्री संबंध स्थापित नहीं हो रहा? सत्ता और शासन की कुर्सी पर आसन बिछाने वाले लोगों का अर्थ के प्रति घोर आकर्षण बता रहा है कि लोकतंत्र के सारथि का चरित्र-बल उन्नत नहीं है। अर्जुन को महाभारत की रणभूमि में एक सक्षम सारथि मिल गया था। पर, लोकतंत्र का अर्जुन अभी भी सारथि की खोज में है। महाभारत हो रहा है, पर अर्जुन को सारथि नहीं मिल रहा है।

योग्यता की कसौटियां

'शासक को इंद्रियजई होना चाहिए'—चाणक्य के इस सूत्र को आज के इस पदार्थवादी और सुविधावादी युग में बहुत मूल्य नहीं दिया जा रहा। फिर भी इसकी सचाई को नकारा नहीं जा सकता। सब-के-सब शासक विदेह जनक की प्रतिमूर्ति हों, यह कल्पना तो अतिकल्पना होगी, किंतु शासक में त्याग के कुछ बीजों का अंकुरण हो—इस भावना को सिरे से ही शून्य नहीं किया जा सकता। लोकतंत्र के शासक और प्रशासक के हाथ में असीम अधिकार हैं। प्राचीनकाल के राजा भी उनके सामने अधिकार की सीमा में बौने-से दिखाई देते हैं। इतने बड़े अधिकार को पाना चुनावी प्रक्रिया का वरदान है। क्या त्याग की आंच के बिना उसे पचाया जा सकता है? मनु ने ठीक कहा था—'अर्थशुचिः शुचिः।' शुचि अथवा पवित्र वह होता है, जो अर्थ के मामले में शुचि होता है। इस शौच-धर्म की नितांत उपेक्षा हो रही है। सत्ता के सिंहासन पर बैठे लोगों में शौच-धर्म का विकास होना चाहिए।

वर्तमान का आदर्श

हम नहीं सोच सकते कि आज का शासक चाणक्य की तरह 'कुटिया' का जीवन जी सकता है। विदेह जनक और महामात्य चाणक्य को अतीत की गाथा मानकर वर्तमान के पटल पर रेखांकित न भी करें तो क्या वर्तमान का अपना ही कोई आदर्श नहीं? क्या नैतिक मूल्यों और जीवन-मूल्यों को लिखने के लिए आज मानव के पास कागज, स्याही और कलम नहीं हैं? यदि हैं तो इस प्रश्न पर सामूहिक चिंतन होना चाहिए। यह चिंतन केवल राजनीति के लोग ही न करें। इस चिंतन में उनकी भी भागीदारी होनी चाहिए, जो बड़े उद्योगपति और व्यवसाई हैं और आर्थिक वातावरण में सांस ले रहे हैं। इस चिंतन में उनकी साझेदारी भी कम महत्त्व की नहीं है, जो त्याग-तपस्या का जीवन जीते हैं, जिनका अर्थ-संग्रह से कोई सरोकार नहीं है।

प्रश्न किसी एक व्यक्ति का नहीं, किसी एक दल का नहीं, किसी एक वर्ग का नहीं—प्रश्न है पूरे समाज का, राष्ट्र का। प्रश्न पूरी मानवजाति का है। प्रश्न हमारी धार्मिक और आध्यात्मिक परंपरा का है। प्रश्न उस भारतीय परंपरा का है, जिसने आचार का पाठ पढ़ाने के लिए विश्व के लोगों को आमंत्रण दिया था। अणुव्रत अनुशास्ता आचार्य तुलसी ने इस स्वप्न को संजोया—विभिन्न वर्गों के त्यागी, तपस्वी और मनीषी साथ बैठकर आर्थिक महत्त्वाकांक्षा और असीम व्यक्तिगत स्वामित्व जैसी समस्याओं पर सामूहिक चिंतन करें। वह चिंतन मानव समाज के लिए ज्योति-स्तंभ बने। लोकतंत्र को चिरंजीवी और स्वस्थ बनाए रखने के लिए आवश्यक है वे ज्योतिदीप अथाह समुद्र में तैरने वाले जलपोतों के मार्गदर्शक बन सकें। ❖

भारत और पश्चिम के इतिहास और मान्यताओं की सतही तुलना करने वाले बुद्धिजीवियों ने इस भीतरी प्रवाह के चिंतन को भुलाकर जो आश्चर्यजनक भ्रम फैलाए हैं वे इसीलिए निराधार सिद्ध हो जाते हैं कि उनमें भारतीय चिंतन की मूल दृष्टि गायब रही है। पश्चिम के दिमाग में विजयोन्माद के कारण यह एहसास पलता रहा है कि शक्ति ही सब-कुछ है। इसी शक्ति को आधार बनाकर उन्होंने एक सभ्यता-संस्कृति खड़ी करनी चाही है और यही इच्छा भारत में 'मति अति रंक मनोरथ राइ' सिद्ध हुई है। शक्ति और संपत्ति की वैभवशाली सभ्यताएं भारत में रहीं, पर वे समाज का आदर्श नहीं बन सकीं। समाज का आदर्श वह मानव धर्म ही बना रहा है जो मानव को मुक्ति के रास्ते पर ले जाने का संकल्प दृढ़ किए रहा

परंपरा में ही हैं हमारी जड़ें

❑ कृष्णदत्त पालीवाल ❑

भारत में अनेक जिज्ञासामूलक धर्म, दर्शन, अध्यात्म-चिंतन के संप्रदाय रहे हैं, किंतु एक घटिया किस्म का संप्रदायवाद उनमें कहीं विकसित नहीं हुआ? क्या ये सब आपस में टकराए नहीं? क्या इनकी दृष्टिगत सीमाएं इन्हें तोड़ती नहीं रहीं? और फिरंगी शासन के स्थापित होने पर इनकी भेद दृष्टि ने भारतीय समाज को कमजोर सिद्ध नहीं किया? क्या मसीही दर्शन के प्रचार-प्रसार और ललकार ने वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन दर्शनों की धुरियां नहीं हिला दीं? इन तमाम प्रश्नाकुलताओं के साथ जब प्रबुद्ध भारतीय नागरिक आधुनिक नवजागरण पर सोचने बैठता है तो पता चलता है कि धर्म, दर्शन, अध्यात्म की यहां एक ऐसी अटूट ताकत जनता के पास पहले से ही थी कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद उसे भीतर से प्रभावित नहीं कर सका। भारतीयों के मन में ब्रिटिश शासन-काल में महावीर, बुद्ध, राम, कृष्ण, शिव की चिंतन परंपरा को हेय मानने की बात एक क्षण के लिए भी नहीं आई। उनमें यह भाव भीतर ही भीतर मथता रहा कि हम इतने गौरवशाली चिंतन के दाय को पाकर भी पराधीन क्यों हैं? और इसी चिंतन की कुरेद ने भारतीयों को भीतर की रोशनी दी जिससे निराशा खत्म हुई और नवनिर्माण, सुधार-भावना के भीतर से आधुनिक भारतीय नवजागरण की किरणें फूट पड़ीं।

यदि भारतीय मनीषा ने पश्चिम के सामने समर्पण कर दिया होता तो आज मानने में हमें कोई कठिनाई न होती कि हमारा नवजागरण पश्चिम की देन है और पश्चिम जैसा है। चूंकि हम भारतीयों ने पश्चिमी 'ट्रेजेडी' के चिंतन को यथार्थ चिंतन कहकर स्वीकार नहीं किया और यह विश्वास नहीं खोया कि जीवन में अन्याय पराजित होकर रहता है। हमारी धर्मकथाओं, पौराणिक कथाओं, जातक कथाओं, किंवदंतियों, लोककथाओं, मिथकों का केंद्रीय चिंतन यही रहा कि हर कंस कृष्ण के द्वारा अवश्य मारा जाएगा। हर अंधकार पर प्रकाश की जीत होगी। यह अंधकार से जूझकर प्रकाश पाने की परंपरा आधुनिक नवजागरण की प्रत्येक घटना और क्रांति में देखी जा सकती है। यहां जीव के मरने पर जीवन नहीं मरता और जीवन ही पुराने वस्त्र त्यागकर नए वस्त्र धारण कर लेता है। जीव और जीवन की यह अदम्य लालसा ही प्रत्येक अन्याय के प्रतिकार में खड़ी होती है। कभी इस लालसा का नाम तिलक रहा है, कभी सुभाष, कभी गोखले, कभी गांधी और कभी अरविंद तो कभी विवेकानंद। लेकिन लालसा ने अपराजेय भारतीय मन को कभी कुचलकर मरने नहीं दिया।

सन् 1857 की क्रांति में यही लालसा किसान, मजदूर, सिपाही, राजा, नवाब, प्यादा बनकर रंग लाई। क्रांति केवल गाय-सूअर की चर्बी का खेल नहीं है। मूल

बात इतनी है कि अन्याई के खिलाफ जब मौका हाथ लग जाए—खड़े होने की जरूरत है। इस जरूरत के लिए भारतीय जनता को कोई ईश्वर नहीं चाहिए। जरूरत के समय यदि कोई बुद्ध, कोई महावीर मिल जाए तो बात बन जाती है। बौद्ध जैसी परंपराओं में इस बात पर विवाद नहीं रहा कि ईश्वर है या नहीं है। ईश्वर नहीं है तो भी चिंता की बात नहीं है। मानव को तो आगे चलना है। भारतीय चिंतन में जीवन का ठहराव-पड़ाव नहीं है। गति है, सतत परिवर्तनशील जीव-जीवन स्थिति है। इसी मूल दृष्टि को ग्रहण करने के बाद भारतीयों ने नैतिक आचार संहिताएं बनाई थीं। ईश्वर से ज्यादा सृष्टि के नियमों की परवाह की और इसी के भीतर से लौकिक ज्ञान-विज्ञान का दोहन किया। पारलौकिक चिंता ने लोक-चिंता, लोक-पीड़ा को कभी भी दूसरी स्थिति में नहीं रखा। लोक-चिंता की तार्किकता ने शास्त्र और नियमों को चुनौती दी। शास्त्र और लोक के बीच के द्वंद्व में जीत लोक की हुई। स्वयं गांधी के नारायण की आंखों में नर की व्यथा ही उभरी और यह प्रथा ही हमारे भारतीय नवजागरण की सच्ची मनोभूमिका है।

भारतीय इतिहास की गति गवाह है कि हिंदी-अहिंदी प्रदेशों के भीतर से जो खौलता हुआ खमीर उठा उसने साहित्य में रवींद्रनाथ, इकबाल, भारतेंदु, महावीरप्रसाद द्विवेदी की शक्ल धारण की और राजनीति में तिलक, गोखले, गांधी की। सांस्कृतिक क्षेत्र में यही मानवेंद्रनाथ राय, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद और अरविंद का रूप धारण कर सामने आया। विचारों के इसी महाप्रवाह ने संपूर्ण भारतीय साहित्य के भीतर नवजागरण के बीजों को जमने-पनपने का मौका दिया। भारत और पश्चिम के इतिहास और मान्यताओं की सतही तुलना करने वाले बुद्धिजीवियों ने इस भीतरी प्रवाह के चिंतन को भुलाकर जो आश्चर्यजनक भ्रम फैलाए हैं वे इसीलिए निराधार सिद्ध हो जाते हैं कि उनमें भारतीय चिंतन की मूल दृष्टि गायब रही है। पश्चिम के दिमाग में विजयोन्माद के कारण यह एहसास पलता रहा है कि शक्ति ही सब-कुछ है। इसी शक्ति को आधार बनाकर उन्होंने एक सभ्यता-संस्कृति खड़ी करनी चाही है और यही इच्छा भारत में 'मति अति रंक मनोरथ राइ' सिद्ध हुई है। शक्ति और संपत्ति की वैभवशाली सभ्यताएं भारत में रहीं, पर वे समाज का आदर्श नहीं बन सकीं। समाज का आदर्श वह मानव धर्म ही बना रहा है जो मानव को मुक्ति के रास्ते पर ले जाने का संकल्प दृढ़ किए रहा।

धर्म यहां 'रिलीजन' का पर्याय नहीं रहा। वह मानव धर्म बनकर समाज को धारण करने की प्रक्रिया बनकर ही निखरा। इसलिए पूर्व और पश्चिम के ऐतिहासिक अनुभव एक-दूसरे से उलटे रहे। भारत ने प्रकृति, धर्म और दर्शन को एक साथ—एकाकार करके सभ्यता-संस्कृति के सपने को आगे बढ़ाया। देखा जाए तो धर्म और संस्कृति—दोनों ही गलत अनुवाद के कारण अवमूल्यन के शिकार हुए। अन्यथा भारतीय धर्म-चेतना एक विचारपरक अर्थ में विज्ञान-चेतना की विरोधी नहीं है। ओढ़ी हुई पश्चिमी मानसिकता ने यह विचार मुकम्मल किया कि धर्म हेय है, बंधन है, तोड़ने वाला जहर है, संप्रदायवाद है, संस्थान है। भारत में भौतिकता और अध्यात्मवाद का अद्वैत सदियों से चला आया था, जिसे पश्चिम ने भौतिकता और अध्यात्मवाद के द्वैत से गलत राह दिखाई। धर्म की मानववादी दृष्टि का इस पश्चिमी चिंतन ने सत्यानाश कर डाला। पश्चिम की अतिरेकवादी द्वैत दृष्टि ने विसंगतियों को जन्म देकर भारतीय अस्मिता की सही पहचान को भुला दिया। आचार्य क्षितिमोहन सेन के शब्दों में कहें तो धर्म का विकास भारत में वृक्ष-भाव से हुआ। वृक्ष के बीज से अंकुर फूटता है। अंकुर से शाखाएं, प्रशाखाएं फूटती हैं, पुराने पत्ते झरते हैं, नए पत्ते आते हैं, नए फूल-फल लगते हैं। वृक्ष विहगों को आश्रय देता है और पथिकों को छाया। वृक्ष के बीज से नए वृक्ष फिर उगते हैं। यह प्रक्रिया सतत चलती रहती है। अतः धर्म एक प्रकार से वैदिक ऋतु का रूपांतर है, जिसमें अखंडित भाव से सृष्टि-गति की निरंतरता बनी रहती है। यही धर्म एक विशिष्ट अर्थ में काल है—जो अनंत है, अनंत से अनंत की अनवरत यात्रा है।

प्रकृति के साथ ऋत भाव है। ऋत का अर्थ है गति का नैरंतर्य। इसी का पौराणिक प्रतीक वृष है। यह वृष कृषि का दाता है। संस्कृति की जमीन को यह तोड़कर उर्वर बनाता है। नई मिट्टी ऊपर लाता है। नई फसल लहलहाता है। अन्नमय प्राणी इसे खाकर जीता है। वह वृक्ष ही पृथ्वी-रूपी गौ का रक्षक है, पिता है, भाई है। इस गाय के सत्य, दया, तप और दान ये चार पैर हैं। और आगे देखें तो रूपकों की भीड़ खत्म होने पर धर्म को सूर्य का पुत्र कहा गया है। सूर्यपूजक भारतीय संस्कृति की धर्म-धारणा को इस संदर्भ में देखने पर अनेक नए अर्थगर्भित प्रसंग फूट पड़ते हैं। खुले दिमाग से हम धर्म के विषय में चिंतन करते हैं तो पाते हैं कि धर्म सभी को दुख से मुक्ति दिलाने का समाष्टि चित्त भाव है। धर्म वही है जो एकांगी दीवारें तोड़ता है, जीव मात्र के

मंगल में सक्रिय रहता है। किंतु हमारा यह चिंतन कि मरने में जीना समाया हुआ है, पश्चिमी विचारकों की खोपड़ी में ठीक से नहीं बैठ सका।

आधुनिक भारतीय जनजागरण की यह विशिष्टता विचारणीय है कि जनमुक्ति आंदोलन यहां जनता ने चलाया है—सामंतों, साहूकारों, ताल्लुकेदारों ने नहीं। क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीतियों से सबसे ज्यादा मार भारतीय जनता पर ही पड़ी। किसान-मजदूर की गरीबी इस हद तक पहुंच गई कि न खाने को अन्न, न पहनने को वस्त्र, न रहने को छप्पर। इसी भुखमरे वर्ग से आए किसानों, मजदूरों ने गांवों को छोड़कर फौजी भर्ती की शरण ली और समय आने पर सशस्त्र विद्रोह किया और शहीद हो गए। लड़ने वालों में उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के सभी लोग भेदभाव खोकर खेल रहे थे। हिंदू ने मुसलमान को गले लगा लिया था, मुसलमान ने हिंदू को। नाना साहब और अजीमुल्ला का लक्ष्य एक था—देश से फिरंगियों को खदेड़कर स्वशासन स्थापित करना। इन्हीं भेदभाव रहित हिंदू-मुसलमानों के, आजादी के दौरान, गांधी जननेता बने और निर्भयता से डटे रहे। अतः मूल क्रांतिकारी चिंतन गांवों और खेतों से उमड़कर ही दिल्ली की ओर बढ़ा और फिरंगी से हमने अपनी आजादी हासिल करके ही चैन लिया। इस सच्चाई की पहचान हिंदी साहित्य में माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी के साथ छायावाद के कवियों में साफ तौर पर की जा सकती है। इसी नवजागरण के भीतर से सृजनात्मक क्षेत्र में प्रेमचंद और निराला, आलोचना के क्षेत्र में महावीरप्रसाद द्विवेदी और रामचंद्र शुक्ल पैदा होते हैं। और इसी के भीतर से चोट खाकर जयशंकर प्रसाद का सांस्कृतिक संवेदन तेजोद्दीप्त प्रकाश-धारा में फूट पड़ता है—'अरुण यह मधुमय देश हमारा।' यह देखना जरूरी है कि धर्म-दर्शन ने हिंदी के आधुनिक साहित्य में जो भूमिका अदा की है—वह लोक-जागरणवादी, अन्यायविरोधी, स्वाधीनताप्रिय, स्वतंत्र चिंतन की प्रेरणा से भरी पड़ी है। राजनीतिकों, समाज-सुधारकों के साथ कवियों ने भी लगातार यह आवाज उठाई है कि 'न्योछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।' स्पष्ट होता है कि मध्यकालीन संतों के नवजागरण की धारा इस बार नए रूपों-संदर्भों में रूपांतरित होकर सामने आई। स्वयं गांधी इसी परंपरा के परिणाम थे और भारतेंदु भी। यह सच है कि भारतेंदु, विवेकानंद और गांधी की जानकारी बहुत-से मामलों में ठोस नहीं थी, पर भारतीय सांस्कृतिक-सामाजिक परंपराओं की स्मृति से जो जानकारी इन्हें मिली थी, वह पूंजी ही उनके लिए काफी थी। इसी जानकारी के बलबूते पर इन्होंने समाज को जगाया।

अपनी सांस्कृतिक-सामाजिक मान्यताओं की एक समान तार्किकता को पाने से पहले यह जरूरी है कि हम अपने इतिहास के राजनीतिक-आर्थिक ढांचे के सिद्धांत पर गहराई से विचार करें। इसी आधार पर जो मूल मुद्दे उभरते हों उन पर पुनः विचार करें। लेकिन इस कार्य के लिए हमें पश्चिमी सिद्धांतों से एक बार मुक्ति पानी होगी। हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक ढांचे को बनाने में पश्चिम का समाजशास्त्र और इतिहास—सांस्कृतिक दृष्टि से मदद नहीं कर सकते। इसके लिए हमें भारत और भारतीयता की ही व्याख्या करनी पड़ेगी। यह भी समझना होगा कि हमारे समाज का गठन व्यक्ति की इकाइयों से नहीं, परिवार की इकाइयों से हुआ है। छोटे परिवार से बढ़कर समाज एक बृहत्तर परिवार है जिसमें व्यक्ति अपने हित में नहीं, परिवार के हित में सोचता है। इस गठन की प्रकृति में मानव-एकता के सूत्र काफी गहरे हैं और लक्ष्य है व्यक्तित्व के बंधनों से छुटकारा पाना। मानव-देह पाकर विश्व-चेतना, विश्व-उल्लास से जुड़ना भारतीयता है जिसे इधर पश्चिम की लड़ाई लड़ने वाली नस्लपरक राष्ट्रीयता ने नष्ट करना चाहा है। हम भारत के इतिहास को वैदिक, बौद्ध, जैन, ब्राह्मण, श्रमण, शैव, शाक्त संस्कृति के काल-खंडों में न देखें—एक अखंड मानव यात्रा की विकासमान परिवर्द्धमान धारा के रूप में देखें। ऐसे ही भारत को बंगाली, बिहारी, तमिल, आंध्र की क्षेत्रीयता में न समझें, उसे पार्वती की भुजाओं की तरह अभिन्न समझें तो हमारी पहचान पकड़ में आ जाती है। ❖

चूंकि हमारी आधारभूत मानवीय प्रकृति कोमल है, चाहे हम कितनी ही हिंसा या बुरी बातों का सामना करें। अंततः उचित समाधान मानवीय प्रेम की ओर लौटने में ही है क्योंकि यही आधारभूत मानवीय भावना है। अतः मानवीय स्नेह या करुणा मात्र एक धार्मिक बात नहीं, अपितु हमारे दैनिक जीवन में भी अनिवार्य है।

—दलाई लामा

जैन कर्म-सिद्धांत के इतिहास की दृष्टि से कर्म-प्रकृतियों का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। ऋषिभाषित के पार्श्व नामक अध्ययन में आठ मूल कर्म-प्रकृति उपलब्ध हैं। किंतु अलग-अलग नामों की चर्चा नहीं है। केवल आठ का नामोल्लख है। इनका स्पष्ट उल्लेख उत्तराध्ययन के तैंतीसवें अध्ययन और स्थानांग में मिलता है

कर्म और कर्मबंधन : एक विवेचन

❑ साध्वी गवेषणाश्री ❑

जैन दर्शन में 'कर्म' शब्द बहु-प्रचलित है। प्रत्येक दर्शन में किसी-न-किसी नाम से इसे स्वीकार किया गया है। आचार्य देवेंद्रसूरि ने कर्म की परिभाषा करते हुए लिखा है—'जीव की क्रिया का जो हेतु है वह कर्म है।' पंडित सुखलालजी के शब्दों में—'मिथ्यात्व, कषाय आदि कारणों से जीव द्वारा जो निष्पन्न है—वह कर्म है।' मनीषी-दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने कहा—'जीव के शुभ और अशुभ परिणाम से जो पुद्‌गल संगृहीत होते हैं, वे पुद्‌गल 'कर्म' रूप में परिणत हो जाते हैं।'

आत्मा की अनंत शक्ति के अवरोधक तथा विकृति पैदा करने वाले ये कर्म आठ भागों में विभक्त हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अंतराय।

ज्ञानावरणीय कर्म

जो ज्ञान एवं विवेकशक्ति को आवृत करता है वह ज्ञानावरणीय कर्म है। जैसे—बादल सूर्य के प्रकाश को आवृत कर देता है, वैसे ही ज्ञान-शक्ति की आवारक कर्म वर्गणाएं ज्ञानावरणीय कर्म कहलाती हैं, अर्थात् ज्ञान-गुण को ढकने वाला कर्म ज्ञानावरण या ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है।

ज्ञान शक्ति को कुंठित करने वाली क्रियाएं छह प्रकार की हैं— 1. ज्ञान और ज्ञानी की निंदा करने से, यानी ज्ञान-प्रत्यनीकता। 2. ज्ञान का निह्नव (अपलाप) करने से, यानी ज्ञानी को कहना कि वह ज्ञानी नहीं। 3. ज्ञान या ज्ञानी की आसातना करने से। 4. ज्ञान सीखने में विघ्न डालने से अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने में अंतराय डालना। 5. ज्ञान या ज्ञानी पर द्वेषभाव रखने से। 6. ज्ञान के साथ विसंवाद अर्थात् झगड़ा करने से। ज्ञान या ज्ञानी के वचनों में विरोध दिखाना।

ज्ञानावरणीय कर्म का विपाक

विपाक की दृष्टि से ज्ञानावरणीय कर्म की क्रियाएं पांच रूपों में आत्मा की ज्ञान-शक्ति को आवृत करती हैं—

मति-ज्ञानावरण—ऐंद्रिक एवं मानसिक ज्ञान-क्षमता का अभाव। **श्रुत-ज्ञानावरण**—बौद्धिक तथा आगमज्ञान की अनुपलब्धि। **अवधि-ज्ञानावरण**—अतींद्रिय ज्ञान-क्षमता का अभाव। **मनःपर्यव-ज्ञानावरण**—दूसरों के मनोभावों को समझने की क्षमता का अभाव। **केवल-ज्ञानावरण**—पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता का अभाव (निरावरण ज्ञान-प्राप्ति की क्षमता का अभाव)।

कहीं-कहीं विपाक की दृष्टि से इनके दस भेद भी उपलब्ध होते हैं। ये हैं—1. श्रवण-शक्ति का अभाव। 2. श्रवण से उपलब्ध ज्ञान की अनुपलब्धि। 3. दृष्टि-शक्ति का अभाव। 4. दृश्य ज्ञान की अनुपलब्धि। 5. गंध-ग्रहण शक्ति का अभाव। 6. गंध संबंधी ज्ञान की अनुपलब्धि। 7. स्वाद-ग्रहण शक्ति का अभाव। 8. स्वाद संबंधी ज्ञान की अनुपलब्धि। 9. स्पर्श-क्षमता का अभाव। 10. स्पर्श संबंधी ज्ञान की अनुपलब्धि।

दर्शनावरणीय कर्म

स्व-संवेदन को दर्शन कहते हैं। दर्शन शक्ति में बाधक कर्म वर्गणाएं दर्शनावरणीय कर्म हैं। ज्ञान से पूर्व होने वाला वस्तु तत्त्व का निर्विकल्प बोध दर्शन है। इस गुण का अवरोधक दर्शनावरण कर्म है। दर्शनावरण कर्म के बंध-कारण ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही छह प्रकार के हैं। केवल 'ज्ञान' के स्थान पर 'दर्शन' शब्द का प्रयोग किया

जाता है। जैसे—दर्शन या दर्शनवान की निंदा करना आदि।

दर्शनावरण कर्म का विपाक

अशुभ आचरण के द्वारा दर्शन नौ प्रकार की क्रियाओं से कुंठित होता है यथा—1. चक्षुदर्शनावरण—नेत्र शक्ति का अवरोध। 2. अचक्षु दर्शनावरण—नेत्र के अतिरिक्त शेष इंद्रियों की अनुभव शक्ति का अवरोध। 3. अवधि दर्शनावरण—अतींद्रिय दर्शन की उपलब्धि में बाधा। 4. केवल दर्शनावरण—परिपूर्ण दर्शन की उपलब्धि में बाधा। 5. निद्रा—सामान्य निद्रा (सहज जाग्रत होने वाली निद्रा)। 6. निद्रा-निद्रा—गहरी निद्रा (जिसका भंग कठिनाई से हो)। 7. प्रचला—बैठे-बैठे आने वाली निद्रा। 8. प्रचला-प्रचला—चलते-फिरते आने वाली निद्रा। 9. स्त्यानर्द्धि—जिस निद्रा में बड़े-बड़े बलसाध्य कार्य कर डालता है।

वेदनीय कर्म

अनुकूल-प्रतिकूल विषयों से उत्पन्न सुख-दुख रूप में जिसका अनुभव हो—वह वेदनीय कर्म है। यद्यपि वेदन सभी कर्मों का होता है, किंतु सुख-दुख का वेदन इसी कर्म से होता है। मधुलिप्त तलवार के समान अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन की अनुभूति सातवेदनीय-असातवेदनीय कहलाता है।

सातवेदनीय कर्म का बंधन दस प्रकार से होता है और उसका विपाक सुखद संवेदना रूप में होता है। जैसे—मनोहर, कर्णप्रिय, सुखद स्वर का श्रवण, सुस्वादु भोजन की प्राप्ति, वांछित सुखों की उपलब्धि, शुभवचन एवं शारीरिक सुख।

असातवेदनीय कर्म की बारह प्रकार की क्रियाओं द्वारा दुखद अनुभूति होती है। जैसे—किसी प्राण, भूत-जीव-सत्त्व को दुख देना, चिंतित करना, शोकाकुल करना, मारना और प्रताड़ित करना। इन छह क्रियाओं की मंदता और तीव्रता के आधार पर ये बारह प्रकार के हो जाते हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार दुख, शोक, ताप, आक्रंदन, वध, परिवेदन—ये क्रियाएं असातवेदनीय कर्मबंध के कारण हैं। 'स्व' और 'पर' की अपेक्षा से ये भी बारह प्रकार के हो जाते हैं। कर्मग्रंथ में सातवेदनीय के बंध के कारणों के विपरीत कारण असातवेदनीय के हैं। इन क्रियाओं के विपाक रूप में आठ प्रकार की दुख संवेदनाएं होती हैं।

मोहनीय कर्म

आत्मा को मूढ़ बनाने वाले कर्म-पुद्गल मोहकर्म हैं। मोहकर्म मदिरा के समान है। मदिरा सेवन से जैसे विवेक शक्ति कुंठित हो जाती है, वैसे ही जिन कर्म-परमाणुओं से आत्मा की सत्-असत् की निर्णय-शक्ति लुप्त हो जाती है, उसका नाम मोहनीय कर्म है।

मोहनीय के दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोह के तीन भेद हैं—सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय। चारित्र मोहनीय के भी दो विभाग—कषाय मोहनीय, नो-कषाय मोहनीय हैं। कषाय मोहनीय के मूल भेद चार हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। प्रत्येक के चार-चार भेद हैं।

नो-कषाय मोहनीय कर्म—जो क्रोधादि प्रधान कषायों के साथ उत्पन्न होते हैं, उन्हें उत्तेजित करते हैं, उनके साथ ही फल देते हैं। कषायों के साथ उनकी अनुभूति होने से नो-कषाय मोहनीय कर्म कहलाते हैं। इनके हास्य, रति आदि नौ भेद हैं। जैसे—

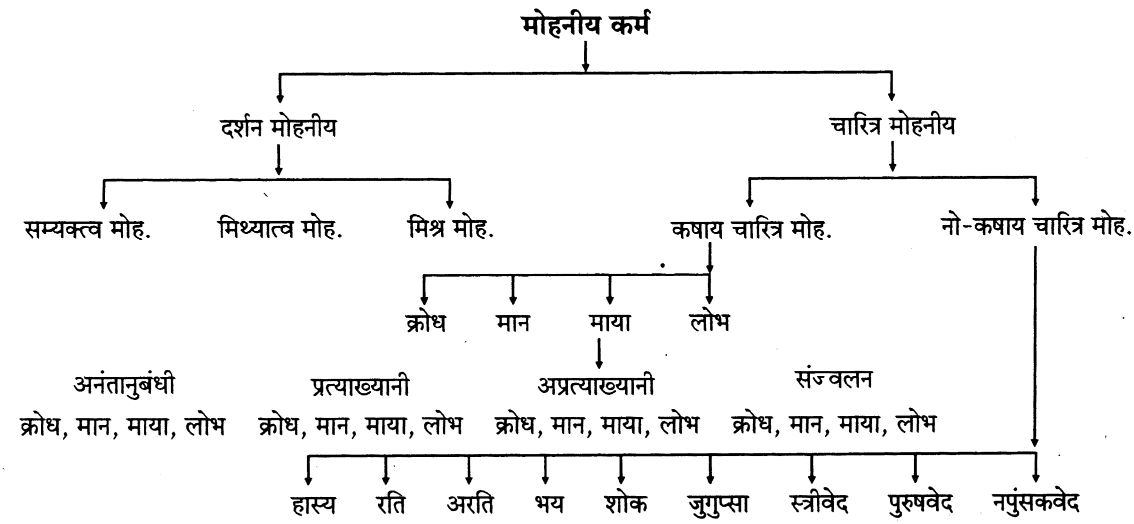

इस प्रकार अट्ठाईस प्रकार की क्रियाओं से मोहनीय कर्म का फलभोग होता है।

आयुष्य

जीव को किसी भव-विशेष में नियत समय तक बनाए रखता है—वह आयुष्य कर्म है। यह कर्म कारागार के समान है। जिस प्रकार कैद में दिया हुआ व्यक्ति नियत समय से पहले कारागार से मुक्त नहीं होता, उसी प्रकार आयुकर्म के कारण जीव निश्चित समय तक एक शरीर में बंधा रहता है।

आयुकर्म के चार भेद हैं—नरकायु—नरकगति में अवस्थित रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल। तिर्यंचायु—तिर्यंचगति में अवस्थित रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल। मनुष्यायु—मनुष्य गति में अवस्थित रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल। देवायु—देवगति में अवस्थित रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल। नरकायु की चार क्रियाएं हैं—(1) महारंभ, (2) महापरिग्रह, (3) मांसाहार और (4) पंचेंद्रियवध। इसी तरह तिर्यंचायु की भी चार क्रियाएं हैं—(1) माया, (2) गूढ़ माया, (3) असत्यवचन और (4) कूट तोल-कूट माप। मनुष्यायु की भी चार प्रकार की क्रियाएं हैं—(1) सरलता—सरल प्रकृति, 2. प्रकृति विनीत होना, (3) दया के परिणाम रखना और (4) अहंकार और मात्सर्य का विसर्जन। तत्त्वार्थ सूत्र में इससे कुछ भिन्न अल्पारंभ, अल्पपरिग्रह; सरलता-मृदुता को मनुष्यायु का कारण माना है। देवायु की भी चार प्रकार की क्रियाएं हैं—1. सराग संयम, 2. संयमासंयम, 3. बाल-तप और 4. अकाम-निर्जरा।

घड़ी में मर्यादित काल के लिए चाबी भरी रहती है। मर्यादा पूर्ण होने पर घड़ी की गति बंद हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्य तिर्यंच आदि योनियों में नियतकाल तक अवस्थित रहते हैं। आयुकर्म के कारण ही जन्म-मरण का चक्र घूमता है।

नामकर्म

चित्रकार विभिन्न प्रकार के चित्रों का निर्माण करता है, वैसे ही जिन कर्म-पुद्गलों से जगत के प्राणियों के विभिन्न शरीरों का निर्माण होता है—उसे नामकर्म कहते हैं, अर्थात् जीवन की विविध सामग्री की उपलब्धि के हेतु भूत कर्म-पुद्गल। जैन आगम के अनुसार अच्छे व्यक्तित्व की प्राप्ति के चार कारण माने गये हैं—1. कायिक ऋजुता, 2. वाणी की ऋजुता, 3. मानसिक ऋजुता, 4. कथनी-करनी की समानता।

नामकर्म के दो विभाग हैं—शुभ और अशुभ। शुभ नामकर्म की क्रियाओं का विपाक चौदह प्रकार से होता है। जैसे—1. इष्ट शब्द, 2. इष्ट रूप, 3. इष्ट गंध, 4. इष्ट रस, 5. इष्ट स्पर्श, 6. इष्ट गति, 7. इष्ट स्थिति, 8. इष्ट लावण्य, 9. इष्ट यशकीर्ति, 10. इष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरस्कार-पराक्रम, 11. स्वरता, 12. कांत स्वरता, 13. प्रियस्वरता, 14. मनोज्ञ स्वरता।

व्यक्तित्व के निर्धारक तत्त्वों को नामकर्म की प्रकृति के रूप में जाना जाता है, जिनकी संख्या 42 या 103 तक पहुंचती है। अशुभ कर्म के बंधन और विपाक के बिंदु शुभ नामकर्म के विपरीत हैं।

गोत्र

जिस कर्मोदय से जीव को उच्च-नीच शब्दों से संबोधित किया जाए या जिसके कारण प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित कुलों में जन्म होता है, उसे गोत्रकर्म कहते हैं। गोत्रकर्म कुम्हार के समान है, जैसे कुम्हार छोटे-बड़े चाहे जैसे घड़ों को तैयार करता है, वैसे ही प्राणी जगत में छोटे-बड़े की भेद-रेखा उसी कर्म से खींची जाती है। निम्नोक्त बातों का अहंकार न करने वाला जीव सम्मान पाता है और उच्च गोत्रकर्म का बंधन होता है। ये हैं—जाति, कुल, बल, रूप, तप, श्रुत (ज्ञान), लाभ, ऐश्वर्य। इसके विपरीत आचरण करने वाला असम्माननीय कुल में पैदा होता है और नीच गोत्रकर्म का बंधन करता है।

अंतराय कर्म

दान, लाभ, भोग, उपयोग और वीर्य शक्ति में बाधक कर्म को अंतराय कर्म कहते हैं। अंतराय कर्म भंडारी के समान है। जैसे—भंडारी (कोषाध्यक्ष) के प्रतिकूल होने से राजा आदि दान नहीं कर सकता, इसी प्रकार अंतराय कर्मोदय से जीव दान आदि नहीं दे सकता। अंतराय कर्म इस प्रकार हैं—दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यांतराय।

जैन कर्म-सिद्धांत के इतिहास की दृष्टि से कर्म-प्रकृतियों का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। ऋषिभाषित के पार्श्व नामक अध्ययन में आठ मूल कर्म-प्रकृति उपलब्ध हैं। किंतु अलग-अलग नामों की चर्चा नहीं है। केवल आठ का नामोल्लख है। इनका स्पष्ट उल्लेख उत्तराध्ययन के तैंतीसवें अध्ययन और स्थानांग में मिलता है।

आठ कर्मों के कथन, क्रम की उत्पत्ति, श्वेतांबर ग्रंथ पंचसंग्रह की टीका, कर्म-विपाक की टीका, जय सोमसूरि

कृत टब्बा, जीव विजयकृत बालावबोध में विवेचन है। ज्ञानावरणीयादि कर्मों में जो अनुक्रम है, सर्वत्र एकसा उपलब्ध होता है। कहीं भी व्युत्क्रम नहीं देखा जाता। इसके पीछे रहस्य क्या है? उपरोक्त ग्रंथों में इसी का समाधान है।

कर्मों के क्रम

जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग ज्ञान-दर्शन रूप है। दोनों में ज्ञान की प्रधानता है। किसी लब्धि और मोक्ष की उपलब्धि भी ज्ञानोपयोग से ही होती है। अतः शास्त्रकारों ने संभवतः ज्ञान के आवरणभूत कर्म ज्ञानावरण को प्रथम स्थान दिया है। दर्शन की प्रवृत्ति ज्ञान के अनंतर है, इसलिए दर्शनावरण कर्म दूसरे नंबर पर आता है। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के तीव्र उदय या क्षयोपशम से क्रमशः जीव को सुख-दुख की अनुभूति होती है, इसलिए वेदनीय कर्म तीसरे स्थान पर है। सुख-दुखानुभूति के साथ राग-द्वेष की परिणति अवश्यंभावी है। अतः मोहनीय अपने उचित स्थान पर है। मोहग्रस्त जीव परिग्रहात्मक अनुष्ठानों से आयुष्य-कर्म का बंध करता है। अतः मोहनीय के आयुष्य का क्रम उचित ही है। आयुष्य का उदय होता है तब गति और नाम का भोग करना होता है। आयुष्य के बाद नामकर्म प्रतिष्ठित है। गति आदि में उच्च-नीच आदि गोत्र का विपाक है। नाम के बाद गोत्र का नंबर है। उच्चगोत्र में दानांतराय आदि का क्षयोपशम तथा नीचगोत्र में उदय रहता है। इस आशय की स्पष्टता के लिए गोत्र के बाद अंतराय का स्थान है।

दिगंबर ग्रंथ गोम्मटसार, कर्मकांड में अष्टकर्मों के क्रम विषयक उत्पत्ति पूर्वोक्त जैसी ही है, परन्तु ज्ञातव्य है कि अंतराय कर्म घाती है, फिर भी अघातीकर्म के पीछे क्यों? वह अघाती अवश्य है, किंतु अघाती कर्मों की तरह आत्मा के गुण की सर्वथा घात नहीं करता तथा उसका उदय नाम आदि अघाती कर्मों के निमित्त से होता है, जबकि वेदनीय कर्म अघाती है। उसका स्थान घाती कर्मों के बीच में है, इसलिए कि वह घाती कर्म की तरह मोहनीय कर्म के बल से जीव के गुण का घात करता है। अतः इन आठ कर्मों का क्रम भी व्यवस्थित और महत्त्वपूर्ण है।

घाती और अघाती कर्मों की व्याख्या

कर्मों के इस वर्गीकरण में घाती-अघाती कर्मों की विवेचना भी अपना महत्त्व रखती है। आठ कर्मों को दो विभागों में विभक्त किया गया है—घाती और अघाती। (1) **घाती कर्म**—जो कर्म आत्मा के साथ संयुक्त होकर उसके स्वाभाविक गुणों की घात करते हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय घाती कर्म हैं। (2) **अघाती कर्म**—आत्मा के प्रधान गुणों को हानि नहीं पहुंचाने वाले अघाती कर्म हैं। जैसे—वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र।

आत्मा की स्वाभाविक दशा में विकृति उत्पन्न करना, उसके निजी गुणों का विघात करना—घाती कर्मों का कार्य है। इनमें प्रमुख है—मोहनीय कर्म। कर्मबंध के सतत गतिशील प्रवाह में मोहकर्म ही हेतुभूत है। यह ऐसा बीज है, जिसमें अंकुरित होने की क्षमता है, शेष अघाती कर्म इसके सहयोगी हैं। मोहकर्म के पराभूत होने पर शेष सभी कर्मों का परिवार स्वतः परास्त हो जाता है।

अघाती कर्म दग्ध बीज के समान हैं, जिनमें उत्पादन क्षमता नहीं हैं। नया उत्पादन नहीं कर सकते। समय के परिपाक के साथ ही अपना फल देकर अलग हो जाते हैं। आत्म-गुणों के बाधक नहीं हैं। घाती कर्म की प्रकृतियां भी दो प्रकार की होती हैं—सर्वघाती, देशघाती। सर्वघाती कर्म-प्रकृति जहां आत्मा के गुण समग्रता से आवृत करती है, वहां देशघाती उसके एकांश को।

अनंतानुबंधी कषाय—सम्यक्त्व, अप्रत्याख्यानी कषाय, देशव्रती चारित्र, प्रत्याख्यानी कषाय, सर्वव्रती चारित्र तथा पांच प्रकार की निद्राएं, आत्मा की सहज सत्यानुभूति, अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन—ये बीस प्रकार की प्रकृतियां सर्वघाती हैं।

शेष ज्ञानावरणीय की चार, दर्शनावरणीय की तीन, मोहनीय की तेरह, अंतराय की पांच—इस प्रकार कुल पचीस कर्म-प्रकृतियां देशघाती हैं और सर्वघाती आत्मगुणों के विकास को रोकती हैं, परंतु अस्तित्व का नाश नहीं करतीं। यदि पूर्णतः अस्तित्व का नाश कर दें तो आत्मा और जड़-तत्त्व का भेद समाप्त हो जाएगा। कर्म ज्ञानादि गुणों को कितना ही आवृत करलें, किंतु उनका एक अंश तो अनावृत ही रहेगा।

कर्मबंध के प्रकार

राग-द्वेषात्मक भाव से क्रियाएं होती हैं। क्रियाओं से कर्म-परमाणुओं का आश्रव होता है और कर्माश्रव से कर्म-बंध होता है। जैसे—फोटोग्राफर चित्र खींचते समय अपने कैमरे को व्यवस्थित ढंग से रखता है, उस समय उस कैमरे के समीप आने वाले पदार्थ की आकृति 'लेंस' के माध्यम

से 'प्लेट' पर अंकित हो जाती है, उसी प्रकार राग-द्वेष रूपी कांच के माध्यम से पुद्‌गल-पुंज आत्मा में एक विशेष विकृति उत्पन्न कर देते हैं, जो पुनः मात्रा, काल-मर्यादा और तीव्रता—इन बातों का भी निश्चय करती है।

जीव के भावों की विचित्रता के अनुसार वे कर्म भी विभिन्न प्रकार की फलदाई शक्ति को लेकर आते हैं। जिस तरह गंधक, शोरा, तेजाब आदि के मिलने पर रासायनिक प्रक्रिया प्रारंभ होती है तथा भिन्न प्रकार के तत्त्व-विशेष की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार कर्मों का जीव के साथ सम्मिलन होने पर रासायनिक क्रिया प्रारंभ होती है, उससे अनंत प्रकार की विचित्रताएं जीव के भावानुसार व्यक्त हुआ करती हैं। जीव के परिणामों में वह बीज विद्यमान है जो प्रस्फुटित तथा विकसित होकर अनंतविध वृक्ष के समान दिखाई देने लगता है। कर्म भी भावानुसार विभिन्न प्रकृति वाले होते हैं। प्रकृति की अपेक्षा से कर्मों के मूल भेद आठ हैं और उत्तर भेद 148 हैं। उत्तरोत्तर असंख्यात भेद भी हो जाते हैं। वे सभी प्रकृतियां पाप और पुण्य रूप होती हैं।

विपाक की दृष्टि से कर्म-प्रकृतियों को चार भागों में विभक्त किया गया है—(1) जीव विपाकी, (2) भव विपाकी, 3. क्षेत्र विपाकी, (4) पुद्‌गल विपाकी। **जीव विपाकी**–जिन कर्म-प्रकृतियों के उदय से जीव के स्वभाव पर सीधा प्रभाव पड़ता है। **भव विपाकी**–आयुकर्म की नरकादि चारों प्रकृतियों का विपाक भव-आश्रित है। **क्षेत्र विपाकी**–नरकादि चारों आनुपूर्वी की ये चार प्रकृतियां नरकादि गति की ओर से गति में आबद्ध रखती हैं। अतः ये स्थिति, स्थान, क्षेत्र से संबंधित होने से क्षेत्र विपाकी हैं। **पुद्‌गल विपाकी**–शरीर पुद्‌गल से निर्मित है। अतः शरीर और शरीर से संबंधित प्रकृतियां पुद्‌गल विपाकी हैं। जैसे–शरीर–शरीर की अस्थि रचना रूप छह, संहनन–शरीर की आकृति रूप छह, संस्थान–शरीर के तीन अंगोपांग। शरीर के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श और शरीर से संबंधित अगुरुलघु, आतप-उद्योत, उपघात-पराघात—ये प्रकृतियां पुद्‌गल विपाकी हैं।

निर्हेतुक और सहेतुक उदय

कर्मों का परिपाक-उदय सहेतुक और निर्हेतुक दोनों प्रकार से होता है। किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया—यह सहेतुक उदय है। कभी-कभी बाहरी निमित्त के अभाव में भी वेदनीय पुद्‌गलों के तीव्र विपाक से क्रोध आ जाता है—वह निर्हेतुक है। इसी तरह हास्य, भय, वासना आदि अनेक ऐसी प्रवृत्तियां हैं जिनमें निर्हेतुक और सहेतुक दोनों प्रकार का उदय देखा जाता है।

नैसर्गिक उदय में कर्म के हेतु

गति, स्थिति और भव के निमित्त से कई कर्मों का अपने-आप विपाक हो जाता है। जैसे—नरक गति में असातवेदनीय कर्म का तीव्र उदय होता है। यह गतिहेतुक विपाकोदय है। मोहकर्म की सर्वोत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व मोह का तीव्र उदय होना। यह स्थितिहेतुक विपाकोदय है। दर्शनावरणीय कर्मोदय से नींद आती है, चारों गति में यह कर्म है। फिर भी देव और नारक को नींद नहीं आती, केवल मनुष्य और तिर्यंच को ही आती है। यह भवहेतुक विपाकोदय है।

पर-निमित्त से उदय में आने वाले कर्म के हेतु

पुद्‌गलहेतुक उदय—किसी ने डंडा मारा, गिर पड़ा। फ्रेक्चर हो गया, असातवेदनीय का उदय हो गया। यह पर-निमित्त से होने वाला पुद्‌गलहेतुक विपाकोदय है। पुद्‌गल-परिणाम के द्वारा भी विपाकोदय हो सकता है। जैसे—भोजन का पाचन ठीक नहीं होने से अजीर्ण हो जाता है, इससे रोग बढ़ता है। यह असातवेदनीय विपाकोदय है। अपथ्य भोजन से विकार पैदा हो गया। नशीली वस्तुओं से उन्माद छा जाता है, असंतुलित हो गए। यह ज्ञानावरण का विपाकोदय है। इस प्रकार कर्मों के विपाकोदय में अनेक निमित्त होते हैं। हेतु नहीं मिलते तो उन कर्मों का विपाकोदय नहीं होता।

उदय का दूसरा प्रकार है—प्रदेशोदय। इसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नहीं होता यह कर्म-वेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। कर्मफल का भोग अवश्यंभावी है।

गौतम ने पूछा—भंते! कृत कर्मों का फल निश्चित भोक्तव्य है, क्या यह सत्य है?

भगवान ने उत्तर दिया—हां गौतम! गौतम ने फिर प्रश्न किया—भगवान! कैसे?

गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म कहे हैं—प्रदेश कर्म और अनुभाग कर्म। जो प्रदेश कर्म हैं, वे नियमतः भोगे जाते हैं। जो अनुभाग कर्म हैं, वे अनुभाग रूप में कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं भोगे जाते हैं।

शेष पृष्ठ 41 पर

अनुभूति

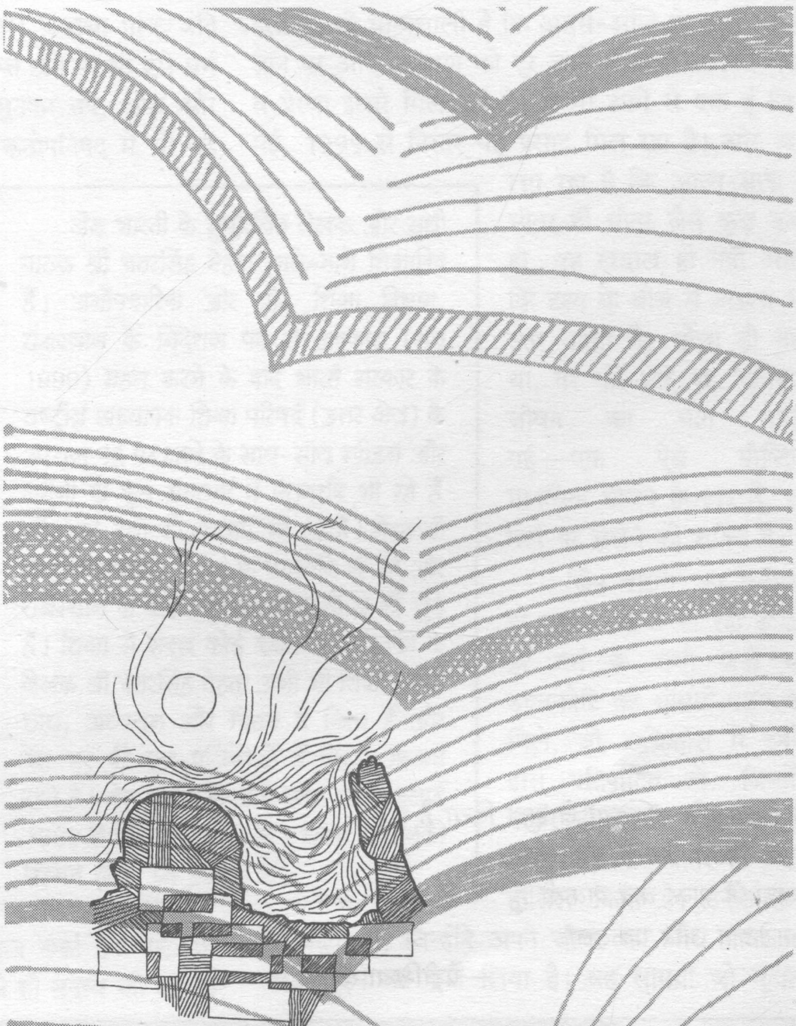

दुनिया की शक्तियों ने मुझे दिया है
एक रिक्त क्षेत्र में एक चुंबक
जहां मैं शुरू कर सकती हूं
समेटना और पकड़ना

—पैट्रीशिया कीनी

'जैन भारती' ने बदलाव के मनोविज्ञान को भी अच्छी तरह समझा है। उसका विश्वास कोरे उपदेशों में नहीं है। उसका विश्वास सभी तरह के विचार प्रस्तुत करने में है— तर्कपूर्ण ढंग से, ताकि पाठक सभी पक्षों को समझें और निर्णय स्वयं करें। लगता है सैद्धांतिक रूप से ही नहीं, इसके पूरे व्यवहार में 'जैन भारती' की आस्था व विश्वास अनेकांत में है

जैन भारती : आधे दशक की तीर्थयात्रा

❑ चतरसिंह मेहता ❑

भगवान महावीर ने कहा है—'माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुईधमस्स दुल्लहा। जंसोचा पविज्जंति तवं खंतिमहिंसय'—मनुष्य शरीर प्राप्त होने पर भी ऐसे धर्म का श्रवण तो दुर्लभ ही है, जिसे सुनकर तप, क्षमा और अहिंसा को प्राप्त किया जा सके। कठोपनिषद् में भी यह बात कही गई हैं—'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य।' यम नचिकेता से कहते हैं कि आत्म-तत्त्व बहुतों को तो सुनने को भी नहीं मिलता। स्पष्ट है कि जिन्हें आत्म-तत्त्व का श्रवण ही मिल जाए, उन्हें भाग्यशाली कहा जाना चाहिए। उसे समझना और उस पर चलना तो फिर आगे की बात है। 'जैन भारती' के पाठकों को यह सुअवसर मिला है कि वे नैतिक व आध्यात्मिक जगत के उच्च सरोकारों से साक्षात् करें—इसलिए वे भाग्यशाली हैं। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—'धूमेनाव्रियते वह्नियथादर्शो मलेन च। यथोल्वेनावृतो गर्भस्तया तेनेदमावृतम'—जैसे धुएं से अग्नि ढंकी है, वैसे ही काम से ज्ञान ढंका है। जैसे गर्भ झिल्ली से बंद व ढंका होता है, ऐसे ही मनुष्य की आत्मा उसकी कामना से ढंकी होती है। 'जैन भारती' के पाठक इसलिए भी भाग्यशाली हैं कि आत्म-अग्नि से धुआं हटाने, ज्ञान पर आए आवरण को दूर करने में इतनी सशक्त मदद व प्रेरणा इससे मिल रही है। मैं भी उनमें से एक हूं जिसे मई, 1999 से निरंतर यह प्रसाद मिल रहा है। और अब लग रहा है कि आत्म-सत्ता ने भीतर ही भीतर जैसे कुछ कहा हो, यह खयाल ही नहीं आता कि दृश्य के बीच में अदृश्य भी उतर आता है। सोचा ही नहीं था, पर धीरे-धीरे यह 'पत्रिका' जीवन का भाग बनती गई—एक ऐसे पौष्टिक मानसिक भोजन के रूप में, जो मार्ग पर चलने की शक्ति दे।

जैन भारती के सुपरिचित लेखक और सुधी पाठक श्री चतरसिंह मेहता जाने-माने शिक्षाविद हैं। अनौपचारिक और प्रौढ़ शिक्षा विभाग, राजस्थान के निदेशक पद से अवकाश (सन् 1990) ग्रहण करने के बाद भारत सरकार के राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद (उत्तर क्षेत्र) के अध्यक्ष पद पर रहने के साथ-साथ स्वीडन और जर्मनी के कुछ संगठनों में परामर्शद भी रहे हैं और कई देशों की यात्राएं भी की हैं। मेहताजी राष्ट्रीय साक्षरता मिशन के परामर्शद भी रहे और राजस्थान के कई स्वैच्छिक संगठनों से भी जुड़े हैं। शिक्षा से संबद्ध कोई दर्जन-भर पुस्तकों के लेखक श्री चतरसिंह मेहता अभी भी शिक्षा संबंधी शोध, अध्ययन और चिंतन में निरत हैं और देश-भर की पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर लिखते रहते हैं। जैन भारती के आधे दशक (मई-जुलाई 1999 से दिसंबर 2004) के प्रकाशन पर उनकी विहंगम दृष्टि इस आलेख में—

'जैन भारती' का संयोजन ही इस प्रकार से हो रहा है कि हर वर्ग के सभी जनों को उच्चकोटि की सामग्री पढ़ने को मिले, जो अधिकांश में उनके द्वारा प्रतिपादित हो, जिन्होंने अपने जीवन को स्वयं पढ़ा है, समझा है और भीतर-ही-भीतर हासिल किया है। उनके द्वारा प्रतिपादित भी, जिन्होंने अपने जीवन का ध्येय सागर की गहराई ढूंढ़ने का बना लिया है। वह सामग्री जो मूलतः

बुद्धि से नहीं, पर हृदय से निकली हो—ऐसी सामग्री का चयन करना भी आसान काम नहीं होता। उसमें जरूरी होती है स्वयं की पैठ, स्वयं की गहराई, स्वयं की श्रद्धा व आस्था और एक विस्तृत ज्ञान का फलक। व्यक्ति क्या करे—यह तो कोई शक्ति है, जिसने माध्यम ढूंढ़ा है और 'जैन भारती' सागर-मंथन द्वारा अमृतपान कराने का प्रयत्न कर रही है।

महावीर सभी के लिए हैं। उनके सूत्र व देशनाएं सार्वभौम व सार्वकालिक हैं। पर ऐसा ही सभी—कृष्ण, बुद्ध, नानक, गोरख, कबीर, मुहम्मद, ईसा और अन्य शीर्ष संतों के लिए कहा जा सकता है। पत्रिका का नाम चाहे 'जैन भारती' हो, इसका रूप ऐसा निखरता जा रहा है कि वह किसी एक संप्रदाय की पत्रिका न रहकर जन-जन की, नैतिकता और अध्यात्म की पत्रिका बन गई है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ मात्र जैन संत ही नहीं, वे तो राष्ट्र-संत हैं और उनका संदेश मानव मात्र के लिए है। अपने से हटकर सबका सोचना व उसका प्रचार करना काफी साहस का कार्य होता है। भारतीय चिंतन को समाहित करते हुए वेद, पुराण, उपनिषद्, गीता, बाइबिल, बौद्ध साहित्य व अन्य धर्मग्रंथों की देशनाओं का सहारा लिए हुए ऐसे कार्य और लेखों को 'जैन भारती' ही प्रकाशित कर सकती है। 'जैन भारती' को खुली निगाह से देखें तो यह बात अब प्रमाणित हो, सर्वत्र प्रतिष्ठित हो गई है।

'जैन भारती' ने बदलाव के मनोविज्ञान को भी अच्छी तरह समझा है। उसका विश्वास कोरे उपदेशों में नहीं है। उसका विश्वास सभी तरह के विचार प्रस्तुत करने में है—तर्कपूर्ण ढंग से, ताकि पाठक सभी पक्षों को समझें और निर्णय स्वयं करें। लगता है सैद्धांतिक रूप से ही नहीं, इसके पूरे व्यवहार में 'जैन भारती' की आस्था व विश्वास अनेकांत में है। संपादकीय लेख तीखे, पर सच्चे। कभी हर्षाये, कभी प्रताड़े, कभी हिम्मत दिलाए, समझ बढ़ाए, बेबाक, जैसी स्थिति है वैसी सामने रखे, निराशा के माहौल में भी आशा का संचार करे, रोशनी को आमंत्रण दे। अति संक्षेप में—गागर में सागर। विधाओं का उपयोग ऐसा जो सभी की रुचियों को समाहित करे—बड़े लेख, छोटे लेख, कहानी, कविता, बाल-कथा, दिशा-बोध, अमोल वचन। पर, सभी का उद्देश्य नैतिक व आध्यात्मिक-जागृति। लगता है, ऐसी रचनाएं स्वयं नहीं आती, कइयों का चयन तो स्वयं संपादक अपने विशाल भंडार से ही करते होंगे। यह तो अपने-आप में बहुत बड़ा कार्य है। हर माह एक कहानी, एक बाल-कथा, कुछ कविताएं, दिशा-बोध, अमोल वचन—सभी उन महापुरुषों, लेखकों व कवियों की रचनाएं—जिन्होंने अपने क्षेत्र में ख्याति पाई है। ऐसे कालजई लेखक जिनके नाम से ही श्रद्धा उत्पन्न होती है। फिर क्यों नहीं ऐसी रचनाएं अपना प्रभाव छोड़ें?

भोजन सामग्री कितनी ही पौष्टिक हो, पर एक ही प्रकार की हो, सब गड्ड-मड्ड कर दी गई हो, सुस्वादु न हो, अच्छे पात्र में न परोसी गई हो, समय पर न मिले तो भोजन पसंद नहीं आता और उद्देश्य अपूर्ण ही रह जाता है। सौभाग्य से 'जैन भारती' ने मानसिक भोजन के सभी मानदंड पूरे किए हैं। ऐसा कम ही होता है। पूरी सामग्री नैतिकता व आध्यात्मिकता से संबंधित व उच्च स्तरीय होने से पूरी पौष्टिक। विविध सामग्री, विभिन्न प्रकार के खंडों में—विमर्श, अनुभूति और शीलन; तर्कपूर्ण, दृष्टांतों, आख्यानों, सरल व बोधगम्य भाषा में सुस्वाद; सुरुचिपूर्ण ढंग से संपादित, सुंदर आवरण, टाइप, बिना किसी वर्तनी-अशुद्धि के; और हर माह निर्धारित तिथि को प्रेषण। ऐसी सभी बातें किसी पत्रिका की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में गिनती करा सकती हैं। यह बड़ा सौभाग्य है कि ऐसा दुर्लभ संयोग मिला है।

'जैन भारती' में खुले विचारों की पूरी छूट है, पर इसके सिवाय लिखने को कुछ है ही नहीं। इसके अंक जीवन-भर संजोने के लिए हैं, एक बार नहीं, पर बार-बार पढ़ने व मनन योग्य हैं और शब्दों को ही नहीं, उनमें छिपे अर्थों को पढ़ने की जरूरत है। बातें केवल बुद्धि और कंठ तक ही न रखकर आगे अनुभव में उतारने के लिए हैं। क्या ही अच्छा हो, संपादक के अपने स्तंभ 'प्रसंग', कहानी, बाल-कथा, कविता और अन्य विषय-गुच्छ के अनुसार 'जैन भारती' में छपी रचनाओं की अलग-अलग पुस्तकें प्रकाशित की जाएं, ताकि पाठकों की रुचि के अनुसार वे इनका रसास्वादन कर सकें। कई स्तरीय पत्र-पत्रिकाएं ऐसा करती हैं।

पिछले वर्षों में दो बार वार्षिक परिक्रमा 'जैन भारती' के अंकों में प्रकाशित हुई थी। पर यह परिक्रमा पूरे पांच-छ वर्षों की है—मई, 1999 से, अतः विशाल भी है और कुछ भिन्न भी। प्रयत्न किया है कि कुछ मुख्य पक्षों पर केंद्रित हो। यह तो लंबी परिक्रमा वाले तीर्थ की यात्रा है, जिसके प्रभाव से तरें और सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य का मार्ग ढूंढ़ें।

धर्म का मर्म

'जो धर्मतत्त्व व्यक्ति व समाज में आत्मानुशासन के लिए नितांत आवश्यक है, वही धर्मतत्त्व कलुषित कर डाला गया है। जो धर्मतत्त्व मनुष्य की दृष्टि को मांजने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है, वही धर्मतत्त्व मनुष्य-मनुष्य के बीच खाइयां खोदने का कार्य करने लगा है। दरअसल यह धर्म का कार्य है ही नहीं, पर दुर्भाग्य से इन सबके लिए दोषी सदा धर्म ही माना जाता रहा और हर कोई धर्म को ही कठघरे में खड़ा करता आया है। एक बड़ा 'झूठ' मजबूरी के साथ 'सच' के रूप में स्थापित हो रहा है। धर्म को लेकर देश का अतिसामान्य जन सबसे अधिक विभ्रांत है। अब जब स्थितियां बेकाबू होने के कगार पर हैं तो समाज की पवित्र मेधा से यह अपेक्षा स्वाभाविक है कि वह धर्म के वास्तविक तत्त्व की पुनर्स्थापना के लिए अपनी ऊर्जा-क्षमता को प्रयोग में लाए।' अपने संपादकीय स्तंभ 'प्रसंग' के अंतर्गत श्री शुभू पटवा ने ये विचार प्रकट करते हुए 'जैन भारती' के माध्यम से धर्म के मर्म को समझने-समझाने का निरंतर प्रयत्न किया और विभिन्न चिंतकों, मनीषियों के विचार प्रस्तुत किए। विशेष परिश्रम कर ऐसे लेखों का चयन भी किया जो इतिहास की दृष्टि से आज धरोहर भी हैं।

धर्म का अर्थ हिंदू धर्म, इसाई धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम या अन्य कहे जाने वाले धर्मों से नहीं है। धर्म एक व्यापक परिप्रेक्ष्य लिए हुए है। **आचार्यश्री महाप्रज्ञ (दिशाबोध—अक्टूबर, 2002)** कहते हैं—'धर्म का अर्थ अपने कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ, भय आदि) पर नियंत्रण करना, नियंत्रण की शक्ति के विकास की साधना करना है। अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण करना जीवन के लिए श्रेयस्कर है। यह दृश्य एवं बुद्धिगम्य है। मानसिक तनाव-मुक्ति और मानसिक शांति का जीवन जीने के लिए आवश्यक है।' इसी बात को दूसरे शब्दों में समझाया है—**आचार्यश्री तुलसी (धर्मक्रांति की अपेक्षा—दिसंबर, 2001)** ने—'धर्म का मूल उद्देश्य है मानसिक शांति। अशांत मन को समाधान देने की जो प्रक्रिया है वही धर्म है। धर्म जितना समाजोभिमुख नहीं होता उतना व्यक्ति-अभिमुख होता है। जिस व्यक्ति का विवेक जाग्रत हो जाता है वही अपने भीतर किए हुए अधर्म को देखता है।' अर्थ हुआ अपने प्रति ईमानदारी धार्मिक व्यक्ति का पहला कदम हुआ, क्योंकि वही यथार्थ को जानने का साहस जुटा सकता है। **श्री नन्दकिशोर आचार्य (धर्मानुभूति और शास्त्र अनुकूलता—मई, 2001)** धर्म को निजी अनुभूति बताते हुए लिखते हैं कि—'जब हम निजी अनुभूति को अन्य लोगों तक संप्रेषित करते और उन्हें वह रास्ता बताते हैं जिससे वे भी उसी अनुभूति तक पहुंच सकते हैं, तब ही किसी धार्मिक संप्रदाय का जन्म होता है। धर्मानुभूति वस्तुतः अपने को जानने की आनंदानुभूति है। यही कारण है कि दुनिया के रहस्यवादियों में एक बात समान मिलती है और वह है सभी प्राणियों, बल्कि सृष्टि मात्र में एकत्व की अनुभूति। यह अनुभूति ही धर्म का वास्तविक मूल तत्त्व है।'

भारतीय मनीषा की दृष्टि यह है कि धर्म वह है जिससे हम चाहें तो भी अलग नहीं हो सकते, क्योंकि यह हमारे प्राणों का आधार है। वह हमारी आत्मा है, सबसे महत्त्वपूर्ण है और जो सबसे महत्त्वपूर्ण होता है वह सदा गुप्त होता है। जड़ें गुप्त हैं, क्योंकि वे महत्त्वपूर्ण हैं, शाखाएं उघड़ी हैं, क्योंकि वे इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। आत्मा का हमें पता नहीं लगता। इस बात को स्पष्ट किया है **श्री यशपाल जैन (धर्म की नींव : जीवन की इमारत—नवंबर, 2002)** ने। वे लिखते हैं—'मानव जीवन के दो प्रमुख अंग हैं। एक है शरीर और दूसरी आत्मा अथवा चेतन तत्त्व। शरीर व्यक्त है, परंतु आत्मा अव्यक्त है। भूख लगती है, खाना खाते हैं और शरीर को पोषण देते हैं। शरीर की तरह आत्मा को भी भूख लगती है, पर हमारा ध्यान उस ओर नहीं जाता, आत्मा भूखी रह जाती है। धर्म वह है, जो हमारा साक्षात्कार आत्मा से कराता है। आत्मा तो शुद्ध है, पर अपने अविवेक से मनुष्य उस पर आवरण डाल देता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का मैल उस पर चढ़ता रहता है। यह मैल आत्मा के आलोक को ढंक देता है। धर्म वह तत्त्व है जो अहर्निश आत्मा का बोध कराता है।' धर्म के इसी सिद्धांत पर **डॉ. एस. राधाकृष्णन (भारत : एक परंपरा, एक भावना, एक प्रकाश—मार्च, 2003)** बल देते हुए विवेचन करते हैं कि—'धर्म शब्द अनेक अर्थों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह 'धृ' धातु से (बनाए रखना, धारण करना, पुष्ट करना) बना है। यही वह मानदंड है जो विश्व को धारण करता है, किसी भी वस्तु का वह मूल तत्त्व, जिसके कारण वह वस्तु 'वह' है। कहा गया है कि जिससे आनंद (अभ्युदय) और परमानंद (निःश्रेयस) की प्राप्ति हो वह धर्म है। धर्म का मूल सिद्धांत है—मानवीय आत्मा के गौरव को प्राप्त करना, जो भगवान का निवास स्थान है।

सब धर्मों का सर्व-स्वीकृत मूल सिद्धांत यह ज्ञान ही है कि परमात्मा प्रत्येक जीवित प्राणी के हृदय में निवास करता है।'

धर्म शब्द से अर्थ 'रिलीजन' नहीं होता। धर्म शब्द से अर्थ मजहब भी नहीं होता। मजहब का अर्थ होता है—पंथ, 'सेक्ट', संप्रदाय। 'रिलीजन' शब्द का मौलिक अर्थ होता है—'रिलीगेर' जिससे हम बंधे हैं। भारतीय मनीषा इस तरह नहीं सोचती। बंधन शब्द अप्रीतिकर है। भारतीय मनीषा धर्म को मुक्ति मानती है। धर्म के सही स्वरूप को स्पष्ट करते हुए **आचार्यश्री महाप्रज्ञ (धर्म निर्विशेषमनस्काय—मार्च, 2004)** लिखते हैं—'धर्म का कार्य चेतना को प्रबल करना, मन और आचरण को शुद्ध करना, व्यवहार को विशुद्ध बनाना, जीवन को पवित्र और शांतिमय बनाना है और धारणा यह हो गई है कि धर्म से धन मिले, बेटा-पोता मिले आदि-आदि। धर्म को स्वार्थ और पदार्थ के साथ जोड़ दिया, वासनाओं और आकांक्षाओं के साथ जोड़ दिया। इससे धर्म की असली आत्मा लुप्त हो गई।' धर्म का विचार बहुत चलता है, आत्मा व ईश्वर, अंधकार व प्रकाश की चर्चा बहुत होती है। लोग चर्चा से तृप्त हो जाते हैं और सोचते हैं कि काम समाप्त हुआ, पर धार्मिक व्यक्ति अपने को आंकता है। **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (भारत धर्म—फरवरी, 2001)** के अनुसार 'धार्मिक व्यक्ति वह है जो यह समझता है कि वह संसार के समस्त प्राणियों से अनेकानेक रूपों में संबद्ध है तथा अधार्मिक वह है जो अन्य प्राणियों का कोई ध्यान रखे बगैर सभी को अहंकारवश अपने सीमित स्वार्थों की दृष्टि से आंकता है।' धर्म, अधर्म और धार्मिक समाज की परिभाषा **डॉ. संपूर्णानंद (समाज और धर्म—जुलाई, 2004)** से मिलती है। उनके अनुसार—'जो काम ऐक्य और सहयोगवर्द्धक है, वह धर्म है। जो काम अपने संकुचित 'स्व' पर केंद्रित रहता है, वह अधर्म है। जिस समाज में कोई जन्मना ऊंचा और कोई जन्मना नीचा माना जाएगा, जिस समाज में योग्य व्यक्ति को ऊपर उठने का अवसर नहीं दिया जाएगा, जिस समाज में तप और विद्या का स्थान सर्वोपरि न होगा, वह समाज अधर्म की नींव पर खड़ा है।'

स्वामी रामतीर्थ (धर्म हमें क्या देता है—दिसंबर, 2004) का भी यही संदेश है कि 'आनंद की दशा में 'मैं तथा तू' का पचड़ा, द्रष्टा तथा दृश्य की भिन्नता लुप्त हो जाते हैं। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किया गया कोई भी क्रमबद्ध प्रयास धर्म कहलाता है।' धर्म की विभिन्न अर्थों में व्याख्या करते हुए अन्य कई लेख हैं जो चर्चा को आगे बढ़ाते हैं—सारगर्भित हैं। डॉ. राजानंद (धर्म का समुच्चय—अगस्त, 1999); डॉ. भगवानदास (मानव धर्म—जनवरी, 2000); डॉ. दयानंद भार्गव (अध्यात्म और सामाजिकता—सितंबर, 2000); आचार्यश्री महाप्रज्ञ (विश्व धर्म का ताबीज—अक्टूबर, 2000 और धर्म : प्रवृत्ति, निवृत्ति—अगस्त, 2004); श्री शुभू पटवा (धर्म का प्रायोगिक रूप—अक्टूबर, 2002); साध्वी गवेषणाश्री (धर्म उपासना भी, आचरण भी—जनवरी, 2004) और पांडुरंग सदाशिव साने (स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह—दिसंबर, 2004) उल्लेखनीय हैं। **आचार्यश्री महाप्रज्ञ (धम्मो दीवो पइट्ठाणं—फरवरी, 2001)** का यह उद्धरण विशेष मननयोग्य है—'धर्म की शरण मिले और आदमी बदले नहीं, यह एक प्रश्नचिह्न है—हमारे समक्ष। धर्म की शरण मिले और कुछ भी न बदले तो मानना चाहिए कि कहीं कोई त्रुटि अवश्य है। या तो धर्म उपलब्ध नहीं हुआ या व्यक्ति धर्म को उपलब्ध नहीं हुआ। इस प्रश्न पर हम विचार करें। धर्म की यात्रा शुरू होती है तो लेश्याओं के भाव, विचार और व्यवहार जीवन में मूर्त बनने लग जाते हैं।'

विज्ञान और धर्म

आज का युग वैज्ञानिक युग कहलाता है। विज्ञान पदार्थों की खोज है। पदार्थ वह है जिसे देखा जाता है और आत्मा वह है जो देखती है। विज्ञान देखने वाले को नहीं पकड़ सकता, वह तो दृश्य को पकड़ सकता है। यदि विज्ञान आत्मा को पकड़ ले तो फिर धर्म की जरूरत नहीं रहेगी। धर्म आत्मा की खोज है। विज्ञान की खोज प्रयोगशाला में, पर धर्म की खोज अपने भीतर। दोनों ही प्रकार के खोजों के आयाम अलग और विधियां अलग। अभी दोनों का मिलन नहीं है, इसलिए विचार भी अलग-अलग हैं। कुछ विज्ञान और धर्म को अलग-अलग समझते हैं, कुछ पूरक, कुछ समन्वय के पक्षधर हैं और कुछ विज्ञान व धर्म को एक ही पथ के राही मानते हैं। 'जैन भारती' ने विज्ञान व धर्म—दोनों को समझने के लिए एक परिचर्चा आरंभ की और इन वर्षों में निरंतर पाठकों के लिए सामग्री प्रस्तुत की।

श्री यशदेव शल्य (धर्म और विज्ञान—फरवरी,

2000) अपने विचारोत्तेजक लेख में राय व्यक्त करते हैं कि 'विज्ञान केवल ऐंद्रिक संदर्भ में वस्तु-व्यापार की कारगर विद्या के रूप में प्रामाणिक होने के अतिरिक्त अन्य किसी भी संदर्भ में प्रामाणिक नहीं है, इसलिए धर्म से इसके समन्वय का कोई अर्थ नहीं बनता।' वहीं **डॉ. डी. एस. कोठारी (विज्ञान और अहिंसा—अगस्त, 1999)** मानते हैं कि—'विज्ञान और अहिंसा एक-दूसरे के सदैव पूरक रहे हैं, विरोधी नहीं। कहने का तात्पर्य है—एक के लिए दूसरे का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। बिना दूसरे के पहले का अस्तित्व संभव ही नहीं है। अनुपूरकता के सिद्धांत का पालन करके ही त्रस्त, दबे-कुचले लोगों के जीवन स्तर को सुधारने, उन्हें उस दलदल से निकालने और नई सामाजिक व्यवस्था कायम करने तथा सौहार्दपूर्ण वातावरण बनाने में सफल हो सकते हैं। हमें ऐसे विश्व के निर्माण की दिशा में काम करना चाहिए जिसका आधार विज्ञान के साथ अहिंसा भी हो।' विज्ञान के लिए सीमा निर्धारित करते हुए **श्री बर्ट्रेंड रसल (विस्तारशील मनोजगत—सितंबर, 1999)** के सुझाव हैं कि—'यदि विज्ञान द्वारा मिली मानव-इच्छाओं की अधिक शक्ति को अभिशाप नहीं, वरदान बनाना है तो जिन लक्ष्यों की ओर ये इच्छाएं उन्मुख हों उनको भी उन्हें प्राप्त करने की क्षमता में वृद्धि के साथ उसके अनुरूप ही बढ़ाना आवश्यक है। ये बातें हमें भावक्षेत्र में ले जाती हैं, जो जीवित बचे रहने की अनिवार्य शर्त होगी।'

धर्म की समझ के बारे में वैज्ञानिक खोज पर **श्री रामधारीसिंह दिनकर (धर्म और विज्ञान—अप्रैल, 2000)** के विचार भी उल्लेखनीय हैं—'भौतिक के साथ-साथ एक आध्यात्मिक विश्व भी है। मनुष्य के अनुभव का अर्थ वह अनुभव भी है जो उसे बाह्य विश्व से प्राप्त होता है और वह अनुभव भी है जो उसे आत्मा से उपलब्ध होता है और विज्ञान तो वही संपूर्ण होगा जो अनुभवों के इन दोनों प्रकार के अनुभवों को स्वीकार करे। विज्ञानाचार्यों का यह स्वीकार करना कि अब तक का विज्ञान सृष्टि के स्थूल यंत्रों और उसके ढांचे के ज्ञान का पर्याय है, बड़ी ही आशा की घोषणा है, क्योंकि स्थूल यंत्रों व ढांचों के परे सृष्टि के अदृश्य रूप के संदर्भ में उनका कोई पूर्वाग्रह नहीं है।' चिंतक **प्रोफेसर नन्दकिशोर आचार्य (वैज्ञानिकता का आतंक—फरवरी, 2000)** इससे भी आगे जाते हैं। धर्म की खोज में विज्ञान की खोज के बारे में वे लिखते हैं—'मानवीय आचरण के अध्ययन में भी कई बार कुछ भौतिक तथ्यों को समझने की जरूरत पड़ती है। निश्चय ही ऐसी स्थिति में भौतिक विज्ञान तथ्य जगत की सही पहचान करने में हमारी मदद करता है और इसकी इस उपयोगिता की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। मनुष्य एक चेतनामय भौतिक अस्तित्व है, अतः उसकी भौतिक यानी जैविक प्रक्रिया को समझने में भी भौतिक विज्ञान का उपयोग संगत है।' शताब्दी के सबसे प्रसिद्ध व सबसे बड़े वैज्ञानिक एलबर्ट आइंसटीन के विचारों को उद्धृत किया है भारतरत्न **डॉ. भगवानदास (धर्म और विज्ञान—जुलाई, 2000)** ने—'मैं ईश्वर को मानता हूं। इस विश्व की व्यवस्था में और समस्त सृष्टि के सुरीले मेल में ईश्वर स्वयं को प्रकट करता है। मैं स्वीकार करता हूं कि समस्त प्रकृति में चेतनता कार्यशील है। विज्ञान के काम का आधार अब इस विश्वास पर है कि यह विश्व अकस्मात् यूं ही उत्पन्न नहीं हो गया, बल्कि इसमें एक व्यवस्था व उद्देश्य है, जो समझ में आ सकता है।' डॉ. भगवानदास का स्वयं का विचार है कि—'विज्ञान और धर्म के मध्य की भित्ति टूटेगी तो धर्म-धर्म के मध्य की भित्ति टूटे बिना नहीं रह सकती और तभी देश-देश और जाति-जाति के मध्य की दीवारें टूटेंगी। तभी मनुष्य में सच्चे भ्रातृत्व का प्रादुर्भाव होगा।'

श्री मानवेंद्रनाथ राय (विज्ञान व धर्म—मई-जुलाई, 1999) के लेख से बहस आरंभ हुई, जिससे ऐसा प्रतीत हुआ कि विज्ञान व धर्म के बीच पारस्परिक विरोध की दृष्टि है। **श्री दयालचंद्र सोनी (धर्म और विज्ञान : कैसे पटेगी बीच की खाई—फरवरी, 2000)** ने अपने सारगर्भित व तार्किक लेख में उदाहरणों सहित यह प्रतिपादित किया कि धर्म व विज्ञान के बीच एकता है। वे लिखते हैं—'विज्ञान तो प्रकृति में व्याप्त धर्म का ही अनुसंधान करने में लगा हुआ है। न्यूटन ने तो पृथ्वी के स्वधर्म की ही खोज की। मानव के स्वभाव में कल्पना व आस्था का तत्त्व है, इससे तो कोई वैज्ञानिक इनकार नहीं कर सकता, बल्कि एक खरे वैज्ञानिक को तो वैज्ञानिक आधार से भी मानना पड़ेगा कि मनुष्य कल्पनाशील व भावनाशील प्राणी है। इस सृष्टि में जो गठन या व्यवस्था दृष्टिगोचर हो रही है, वह इस सृष्टि में व्याप्त विज्ञान पर या इस सृष्टि में व्याप्त एक सनातन नियम पर (जिसे धर्म कहा जाता है—उसी पर) आश्रित है। धर्म का मूलार्थ है—'व्यवस्था में बांधकर चलने वाला'। मुश्किल सारी यों हो गई है कि अध्यात्म अलग नहीं रहा, पूजा-पाठ अलग नहीं रहा, दर्शन अलग नहीं रहा और संप्रदाय अलग नहीं रहा। नतीजा यह हुआ कि धर्म का वास्तविक रूप यानी

उसका वैज्ञानिक एवं इहलौकिक रूप ओझल हो गया।' श्री दयालचंद्र सोनी के विचारों की पुष्टि भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक **डॉ. एस. राधाकृष्णन (रचनात्मक आध्यात्मिक धर्म; विज्ञान व प्रौद्योगिकी—दिसंबर, 2003)** के इन विचारों से होती है और शंकाओं का निवारण भी—'विज्ञान की ठीक समझ आत्मा के धर्म की सहायक है। विज्ञान स्वचालित प्रक्रिया मात्र नहीं है और न ऐतिहासिक परिवर्तन का अज्ञात कारण है। विज्ञान का विकास उन लोगों की बुद्धि पर निर्भर है जिनमें ज्ञान, कौशल और सूक्ष्म बोध है। विज्ञान मानवता की भलाई के लिए है, अतः वैज्ञानिकों को ही कटिबद्ध रहना चाहिए कि वे विज्ञान की सचाई को कायम रखें और इसके उचित लाभदायक उपयोगों से इसे नीचे नहीं गिरने दें।'

इस विषय पर अन्य लेख जो पाठकों को लाभान्वित करते हैं, वे हैं—डॉ. रश्मि कपूर (विज्ञान का दुरुपयोग क्यों—फरवरी, 2000), साध्वी विमलप्रज्ञा (उपहार बीसवीं सदी का—फरवरी, 2000), युवाचार्यश्री महाश्रमण (धर्म क्या है—मार्च, 2000), मुनि महेंद्रकुमार (विज्ञान व धर्म—मार्च, 2000), श्री विक्रम व्यास (वैज्ञानिक भविष्य में धर्म—मार्च, 2000), लियो टाल्सटाय (धर्म और तर्क—मई, 2000), श्री संजीव मिश्र (हार्ड डिस्क में आत्मबोध—जून, 2000) और विनोबा भावे (हमारी धार्मिकता—नवंबर, 2000) के। अतीत में वैज्ञानिक यही कहा करते थे कि केवल पदार्थ है और कुछ भी नहीं है। जब वैज्ञानिकों ने यह जानने का प्रयास किया कि पदार्थ क्या है, विश्लेषण किया तो पाया कि पदार्थ कुछ नहीं है—मात्र ऊर्जा है। संसार-भर के संतों ने जब भी अस्तित्व में गहरे प्रवेश किया तो पाया कि पदार्थ केवल भासता है, गहरे में ऊर्जा है। अब इस बात से विज्ञान सहमत है। संतों ने यह भी कहा कि जब ऊर्जा में गहरे प्रवेश करते हो तो ऊर्जा भी समाप्त हो जाती है और बस चेतना बचती है। इस तीसरी बात तक विज्ञान को पहुंचना अभी बाकी है। खोज जारी है, जारी रहेगी। अब विज्ञान ने धर्म के 'जीन' का तो पता लगाया है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ भी भीतर प्रवेश के लिए प्रेक्षाध्यान, कायोत्सर्ग में विज्ञान के तत्त्वों को ही देख रहे हैं और 'जीवन' को ही 'विज्ञान' की संज्ञा दे रहे हैं।

अहिंसा परमोधर्म

समण सुतं में भगवान महावीर ने कहा है—'तुगं न मंदराओ आगासाओ विसालयं नत्थि। जह तह जंयमि जाणसु, धम्महिंसासमं नत्थि'—जैसे जगत में मेरू पर्वत से ऊंचा और आकाश से विशाल कुछ भी नहीं है, वैसे ही अहिंसा के समान कोई धर्म नहीं है। महावीर की देशनाओं में पंचमहाव्रत केंद्रीय स्थान रखते हैं। उन पांचों में भी शीर्ष स्थान पर है—अहिंसा। यों देखा जाए तो अहिंसा में ही सभी महाव्रत समाहित हो जाते हैं। **श्री दयालचंद्र सोनी (अहिंसा में हैं पांच महाव्रत—जुलाई, 2001)** लिखते हैं कि 'सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह सभी में अहिंसा के ही अंग या आयाम हैं। अहिंसा शब्द से यदि स्थूल हिंसा का निषेध अभिव्यक्त होता है तो सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह शब्दों से सूक्ष्म हिंसा का भी निषेध हो जाता है।' इसीलिए तो इसे अहिंसा परमोधर्मः कहा गया है। अहिंसा को जो महावीर ने रूप दिया कि किसी को मारना ही हिंसा नहीं है, किसी के दिल को दुखाना भी हिंसा है, वाचिक रूप से सभी जानते हैं, फिर भी हिंसा का तांडव-नृत्य चारों ओर दिखाई दे रहा है। **श्री नन्द चतुर्वेदी (अहिंसा की सामाजिक ताकत—सितंबर, 2000)** का मानना है कि 'हिंसा की उन्मादकर्मी व 'इररेशनल' शक्ति के सामने चुपचाप बैठे लोग उत्पीड़कों की ज्यादा मदद करते हैं।' उन्होंने आज और अभी सोचने और दबाव के लिए जनमत बनाने की आवश्यकता जताई।

देश में अहिंसा की सही समझ विकसित करने, इसे मानव-विकास का एक माध्यम बनाने और जीवन में शांति और शुचिता के प्रसार के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने बीड़ा उठाया और 2001 में चार राज्यों की तीन-वर्षीय अहिंसा-यात्रा आरंभ की। 'जैन भारती' ने भी अहिंसा के विभिन्न पहलुओं पर स्पष्टता के लिए इस अभियान में अपनी भूमिका निभाई। आचार्यश्री महाप्रज्ञ, मुनि, साध्वी, समणी और अन्य चिंतकों, संतों के लेखों से सभी को लाभान्वित किया। वर्ष 2004 में तो पूरे वर्ष ही 'प्रसंग' के अंतर्गत अहिंसा के विभिन्न पहलुओं पर एक बहस-सी चलाई, पाठकों को स्वयं विचार करने को प्रेरित किया।

ठीक से समझें तो अहिंसा पर कोई सीधा विचार नहीं हो सकता, जब तक हिंसा को न समझा जाए। स्वास्थ्य की परिभाषा चिकित्सक से पूछें तो वह यही कहेगा कि जहां बीमारी न हो। यह तो बीमारी की बात हुई, स्वास्थ्य की नहीं। धर्म की चर्चा भी अधर्म से आरंभ होती है। **आचार्यश्री महाप्रज्ञ (अहिंसा-हिंसा : विविध पहलू—जुलाई, 2001)** बताते हैं कि—'हिंसा एक कार्य है, कारण नहीं। उसका कारण है—सामाजिक और आर्थिक

विषमता। इसका कारण है—संपन्न वर्ग का विपन्न वर्ग के प्रति क्रूर व्यवहार। उसका कारण है—निम्न वर्ग की उपेक्षा। इन कारणों की समाप्ति हो तो हिंसा अपने-आप कम हो जाएगी। इस सचाई की ओर सरकारें, समाजसेवी संस्थाएं और धर्म के लोग ध्यान दें तो समस्या का समाधान हो सकता है।' **श्री सुरेश पंडित (हिंसा की जननी : कुंठा और हताशा—मई, 2001)** कहते हैं—पूंजी और हिंसा में चोली-दामन का नाता है। यदि सतह से नीचे गहराई से झांक कर देखें तो व्यक्ति के अवचेतन में बैठी हताशाजन्य कुंठा ही हिंसा का एकाकी कारण होती है। **समणी (डॉ.) निर्वाणप्रज्ञा (अहिंसा चेतना का पुनराविष्कार—मार्च, 2001)** ने प्रकृति के दोहन और शोषण को हिंसा की संज्ञा दी और कहा कि—'प्रकृति के असंतुलन को नहीं रोका गया तो इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि एक दिन बिना अस्त्र-शस्त्र के ही पृथ्वी के समस्त प्राणियों का विनाश हो जाएगा।' मुनि राकेशकुमार (पर्यावरण, अहिंसा और संयम—जून, 2003) ने बताया कि—'प्रदूषित पर्यावरण का खतरा असंयमित जीवन की देन है और पर्यावरण के संकट का समाधान संयम व अहिंसा से संभव है।'

डॉ. नन्दकिशोर आचार्य (अहिंसा की राजनीति और उससे आगे—फरवरी, 2002) ने एक नया पक्ष उजागर किया है। वे लिखते हैं—'जाति, नस्ल, वर्ग, राष्ट्र, धर्म आदि के आधार पर अपने को श्रेष्ठ समझना और दूसरे पक्ष से संबंधित व्यक्ति को अपने से ओछा या नीचा समझना हिंसा का ही सूक्ष्म रूप है। राजनीतिक दमन, आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न भी हिंसा की विभिन्न अभिव्यक्तियां हैं।' बात को बढ़ाते हुए **श्री जैनेंद्र कुमार (अहिंसा—मानव सभ्यता और आक्रमण—अगस्त, 2003)** लिखते हैं कि—'शोषण के लिए शुद्ध शब्द हिंसा है। यह बहुत ही सूक्ष्म और व्यापक तत्त्व है।' **डॉ. बच्छराज दूगड़ (भाषा और हिंसा—दिसंबर, 2002)** ने सामाजिक असमानता पैदा करने में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका बताई है। उनका कहना है कि 'विशेष शब्द अपना विशेष प्रभाव छोड़ते हैं—कुछ मरहम का कार्य करते हैं तो कुछ विषबुझे तीर का'।

सार्त्र का वचन है—'द अदर इज हेल', वह जो दूसरा है, वह नरक है। यदि सही समझें तो दूसरा नरक नहीं है, दूसरे को दूसरा समझने में नरक है। आनंद के क्षण वे होते हैं जब हम दूसरों को अपना समझते हैं, उनसे प्रेम करते हैं। **प्रो. रामजीसिंह (अहिंसा की विसंगतियां—फरवरी, 2002)** का विचार है कि—'अहिंसा तो एक अत्यंत भावात्मक प्रत्यय है, जिसका अर्थ है अपार प्रेम एवं असीम धैर्य। यदि हम अहिंसा के अनुयाई हैं तो हमें अपने विरोधियों के प्रति प्रेम का भाव रखना चाहिए।' अहिंसा के स्थान पर प्रेम शब्द भी काम में लिया जा सकता था, पर भगवान महावीर ने नहीं लिया। इसलिए कि प्रेम को गलत अर्थ में समझने की संभावना हो सकती थी। दूसरे को जब दूसरा समझने की चेष्टा होती है, तब-तब हिंसा हो सकती है। **स्वामी प्रभुदानंद (अहिंसा-आध्यात्मिक स्वरूप—अगस्त, 2002)** बताते हैं कि—'डर, हिंसा, घृणा सभी की व्युत्पत्ति परायेपन की भावना के कारण ही होती है। साधु-प्रवृत्ति के व्यक्ति स्वयं में अन्य प्राणियों को देखते हैं और अन्य प्राणियों में स्वयं को। इस कारण वे संपूर्ण प्राणी जगत में प्रेम भाव रखते हैं।' **श्री सुरेश जैन (अहिंसा श्रेष्ठ जीवन-मूल्य—जुलाई, 2002)** इस बात को रेखांकित करते हैं कि व्यक्ति एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। जो आप करते हैं, उसका मुझ पर असर पड़ता है और जो मैं करता हूं उसका असर आप पर पड़ता है। इस तरह सभी समाज के कार्यशील भागीदार हैं।'

आचार्यश्री महाप्रज्ञ (अहिंसक समाज रचना—दिसंबर, 2001) ने अहिंसक समाज के निम्नलिखित तत्त्व गिनाए हैं—(1) अर्थार्जन के साधनों की शुद्धि, (2) सत्ता का विकेंद्रीकरण, (3) मूल्यों की यथार्थता, (4) श्रम का उचित मूल्यांकन, (5) नैतिकता का विकास, (6) कर्तव्य की प्रेरणा और (7) स्वार्थ का विसर्जन या स्वार्थ संतुलन। **भूख और अहिंसा (संपादकीय—सितंबर, 2002)** में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि संसाधन बढ़ा देने से ही विषमता समाप्त नहीं हो सकती। विषमता का शमन तो समता में ही निहित है। जाहिर है हिंसा से मुक्ति के लिए विषमता से मुक्त होना होगा, जो अहिंसक समाज रचना से ही संभव है। इसी सम वितरण के बारे में **महात्मा गांधी (सम वितरण, शरीर श्रम और अहिंसा—अगस्त, 2003)** ने कहा है—'इसके लिए पहली सीढ़ी यह है कि जिसने इस आदर्श को अपने जीवन का अंग बना लिया है, वह अपने निजी जीवन में आवश्यक परिवर्तन कर ले। भारत की दरिद्रता को ध्यान में रखते हुए वह अपनी जरूरतें कम-से-कम कर लेगा। उसकी कमाई बेईमानी से मुक्त होगी। जीवन के हर क्षेत्र में वह संयम से काम लेगा।' **आचार्यश्री महाप्रज्ञ (अध्यात्म : चेतना का ऊर्ध्वारोहण—दिसंबर, 2004)** भी यही कहते हैं—'अध्यात्म की भाषा है कि

जिस व्यक्ति की आसक्ति कम है, उसके बंधन भी कम होंगे। अनावश्यक भोग कम होगा, हिंसा की संभावना कम होगी।'

अहिंसक जीवन-पद्धति अपनाने के बारे में अपने वर्तमान स्वभाव के कारण कई शंकाएं उत्पन्न होती हैं। इस बारे में **डॉ. एस. राधाकृष्णन (अहिंसक समाज के सूत्र—अगस्त, 2001)** के विचार उल्लेखनीय हैं—'कोई भी व्यक्ति भविष्य की जीवन-पद्धति—अहिंसात्मक पद्धति को बिना यह प्रतीक्षा किए कि दूसरे भी उसे अपनाएं, अभी अपना सकता है। और यदि एक व्यक्ति ऐसा कर सकता है तो मनुष्यों के समूचे के समूचे समूह ऐसा क्यों नहीं कर सकते? मनुष्य बहुधा प्रारंभ करने में इसलिए हिचकते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि लक्ष्य को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह मनोवृत्ति ही प्रगति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है—एक ऐसी बाधा जिसे हरएक मनुष्य, यदि वह केवल दृढ़ संकल्प कर ले, दूर हटा सकता है। हमें इस दृष्टिकोण को परे हटा देना होगा कि परिवेश अधिक बलशाली है और हम असहाय हैं।' **आचार्यश्री महाप्रज्ञ (अहिंसा : विसंगतियों का समीचीन उपचार—अक्टूबर, 2003)** एक सरल रास्ता बताते हैं—'हिंसा को छोड़ने की शुरुआत अनावश्यक हिंसा से बचने के प्रयत्न से की जाए। जो-जो आवश्यक नहीं है, उसे छोड़ते चलें। इस नेतिं-नेति के पश्चात जो बचेगा वह जीवन का यथार्थ होगा।' **डॉ. रामजीसिंह (अहिंसक अभियानों की नियति—दिसंबर, 2004)** मत व्यक्त करते हैं कि—'अहिंसा को केवल व्यक्तिगत जीवन की चीज बना लेने से वह सुंदर हो सकती है। पर जब तक अहिंसक समाज-व्यवस्था, अहिंसक राजनीति, अहिंसक अर्थ-व्यवस्था एवं अहिंसक शिक्षा-संस्कृति के लिए निष्ठुर संघर्ष नहीं होगा, अहिंसा का तेज प्रकट नहीं होगा।'

संपादकीय लेख के माध्यम से 'जैन भारती' ने हिंसा के विरुद्ध और अहिंसा के पक्ष में एक अभियान-सा छेड़ दिया। सूक्ष्म रूप से तो अध्यात्म के सभी लेखों में अहिंसा के तत्त्व समाहित होते हैं, पर अहिंसा पर विशेष यात्रा अगस्त, 1999 से ही 'जैन भारती' में आरंभ हो गई—अहिंसा : लोकतंत्र के लिए (अगस्त, 1999), अहिंसा पर्व (मई, 2001), भूख और अहिंसा (सितंबर, 2002) और फिर जनवरी, 2004 से तो प्रति माह—अहिंसा-अमृत (जनवरी), अहिंसा-शक्ति (फरवरी), अहिंसा-संयम (मार्च), अहिंसा-अनेकांत (अप्रैल), अहिंसा-अपरिग्रह (मई), अहिंसा-अनासक्ति (जून), अहिंसा-करुणा (जुलाई), अहिंसा-तेजस्विता (अगस्त), अहिंसा-शिक्षा (सितंबर), अहिंसा-आत्मविश्वास (अक्टूबर), अहिंसा-ज्ञानयज्ञ (नवंबर) और अहिंसा-स्वधर्म (दिसंबर, 2004)। इन सबमें हैं—अहिंसा के विभिन्न पहलुओं को समझने के लिए कुछ दृष्टिकोण, कुछ प्रश्न, कुछ उत्तर व रास्ते और कुछ स्वयं खोजने के सूत्र। ज्ञानयज्ञ में सम्मिलित होने का आह्वान भी—'शुभ वृत्ति से किए हुए सभी कर्म तभी शोभा पाते हैं जब उनके साथ ज्ञान का मिलन हो, ज्ञानपूर्वक अहिंसक आचरण ही फलदाई होता है।' और अंत में यह कि—'अहिंसक समाज के लिए पहली सीढ़ी शिक्षण ही है। इसीलिए शिक्षा के ढांचे पर आज के संदर्भ में गंभीर चिंतन होना चाहिए' (अहिंसा : स्वधर्म—दिसंबर, 2004)।

उपरोक्त लेखों के अलावा अहिंसा के विभिन्न पक्षों पर कई लेख प्रकाश डालते हैं—आचार्यश्री तुलसी (अहिंसा की अर्थवत्ता—नवंबर, 2000 और अहिंसा-ब्रह्मचर्य—फरवरी, 2001), डॉ. बच्छराज दूगड़ (अहिंसा सार्वभौम का सपना—अक्टूबर, 2002 और अनुसंधान व पशु क्रूरता—मई, 2004), गुणवंत शाह (अहिंसा-व्यावहारिक अनिवार्यता—अक्टूबर, 2000), साध्वी संघमित्रा (अहिंसा-निःशस्त्रीकरण का मंत्र—अप्रैल, 2001), विमला ठकार (अहिंसक समाज-रचना की चुनौतियां—जून, 2001), सच्चिदानंद सिन्हा (हिंसा की जड़ें—जुलाई, 2001), साध्वी सुमतिप्रभा (अहिंसा को जानो—अक्टूबर, 2001), साध्वी निर्माणश्री (अहिंसा-वर्ष की प्रासंगिकता—दिसंबर, 2001), साध्वी जयमाला (हिंसा : कौन उत्तरदाई—फरवरी, 2002), साध्वी विमलप्रज्ञा (अहिंसक जीवन-शैली—अगस्त, 2002), मुनि तत्त्वरुचि (अहिंसा : सम्यक् संतुलन का सेतु—अगस्त, 2002), पंकज (राज, समाज और हिंसा—सितंबर, 2002), साध्वी दर्शनविभा (हिंसा का स्रोत—सितंबर, 2002), डॉ. बी. पी. गौड़ (भाषा में हिंसा : एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—सितंबर, 2002), साध्वी मुदितयशा (हिंसा : कारण, निदान—अक्टूबर, 2002 और हिंसा का उत्तर अहिंसा—मार्च, 2004), साध्वी सरलयशा (अहिंसा : आगम के आलोक में—दिसंबर, 2002), डॉ. जितेंद्र जैन (अहिंसा : समाज संरचना का आधार—अगस्त, 2003), जैनेंद्रकुमार

(अस्त्र-शस्त्र बल क्या करेगा—जनवरी, 2004), साध्वी मननयशा (अहिंसा : अस्तित्व की सुरक्षा—फरवरी, 2004) और समणी सत्यप्रज्ञा (शत्रु क्या है, खोज करें—अगस्त, 2004)।

आत्मा की पहचान

डॉ. एस. राधाकृष्णन (आत्मा की स्वतंत्रता—जनवरी, 2004) ने कहा है—'अपना अस्तित्व बनाए रखना, आत्मा की निर्मलता को स्थिर रखना ही मानव जीवन का लक्ष्य है।' **युवाचार्यश्री महाश्रमण (आध्यात्मिक वैभव, शरीर और आत्मा—दिसंबर, 2003)** भी कहते हैं कि—'आत्मा व शरीर दो तत्त्व हैं। आत्मा शाश्वत है। शरीर नश्वर है। इस नश्वर शरीर के लिए जितना समय लगाया जाता है, उतना समय शाश्वत आत्मा के लिए लगाया जाए, इस दिशा में प्रयास किए जाएं तो आदमी शीर्ष तक पहुंच सकता है।' **डॉ. बलवंत जानी (आत्मविजय का नीतिशास्त्र—मार्च, 2001)** ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि 'जो आत्मविजेता है, वही परम विजेता है। स्व पर विजय अर्थात् अपने चित्त में उठने वाली वृत्तियों पर विजय। इन वृत्तियों पर जो अंकुश लगाए, वही विजेता हो सकता है।' स्व पर विजय के लिए स्व को समझना जरूरी होता है और यहीं से आरंभ करने के निर्देश **आचार्यश्री महाप्रज्ञ (जगत के रहस्य और हम—जून, 2003)** देते हैं—'हम स्वयं अपनी पहचान करें कि हम क्या हैं? हम चेतन हैं, हमारी चेतना स्वतंत्र है। किसी की कृति नहीं हैं। हम ज्ञाता हैं। हमारे भीतर ज्ञान है। जानने की शक्ति है। जगत को जानें, जगत के स्वभाव को जानें और जगत में हमारा स्थान क्या है—इसे भी जानें।'

आत्मा की पहचान करना और उस पर ढका आवरण दूर करना ही धर्म का सबसे बड़ा उद्देश्य है। इन दोनों पक्षों को जैन भारती में निरंतर स्थान दिया जाता रहा है। निरंतर इसलिए कि इसके लिए निरंतर किए गए प्रयत्न ही सफल हो सकते हैं। इन वर्षों में छपे निबंधों को इस प्रकार दो भागों में बांट सकते हैं। पहला भाग—आत्मा क्या है, चेतना क्या है, आत्म-ज्ञान क्या है, इन सबका विश्लेषण। यह सैद्धांतिक पक्ष इन निबंधों में उजागर होता है—आचार्यश्री महाप्रज्ञ (आत्मा से परमात्मा—अक्टूबर, 1999), डॉ. महादेवराम (आत्म-ज्ञान क्या है—मार्च, 2001), सत्य प्रेम (चैत्य का आविर्भाव—अप्रैल, 2001), संतोष आचार्य (आत्म-तत्त्व : एक समन्वयात्मक विमर्श—अक्टूबर, 2001), चतरसिंह मेहता (ज्ञान तो आत्म-ज्ञान—सितंबर, 2003) और स्वामी विवेकानंद (क्या आत्मा अमर है—अगस्त, 2004)। निबंधों का दूसरा भाग यह बताता है कि आत्मा निर्मल कैसे होती है, विजय का रास्ता कौनसा है, आत्म-तत्त्व कैसे जाना जा सकता है। यह प्रायोगिक पक्ष इन निबंधों से जाना जा सकता है—आचार्यश्री महाप्रज्ञ (आत्म-नियंत्रण से कषाय-मुक्ति—मार्च, 2001; समाधि : चैतन्य का अनुभव—मई, 2001 और मनुष्य जाति एक है—अक्टूबर, 2001), मुनि मदनकुमार (स्वाध्याय : चेतना विकास का सूत्र—मार्च, 2001), फादर वालेस (आत्मबल के प्रयोग सूत्र—जून, 2001), डॉ. एस. राधाकृष्णन (आत्मा के स्वामी बनो—नवंबर, 2002), आचार्यश्री तुलसी (जरूरत है अंतश्चेतना के विकास की—जनवरी, 2003), मुनि मोहनलाल (आत्म-विकास के सूत्र—जुलाई, 2003), श्री दयालचंद्र सोनी (आत्मगत शिक्षण—सितंबर, 2003) और साध्वी निर्मलयशा (आत्म-ज्ञान की अलख जगे—नवंबर, 2004)।

इस बारे में **अक्टूबर, 2002 में 'आत्म-आलोक'** शीर्षक से दिए संपादकीय में उद्धृत ऋषि भर्तृहरि की पंक्तियां तमस व धुएं को हटाने व आत्मा को निर्मलता तक पहुंचाने के लिए बड़ी प्रेरणास्पद हैं—कोई बुरा कहो या अच्छा/लक्ष्मी आवे या जावे/लाखों वर्षों तक जीऊं या/मृत्यु आज ही आ जाए/अथवा कोई कैसा ही भय/या लालच देने आए। तो भी न्याय मार्ग में मेरा/कभी न पग डिगने पाए। इस संबंध में **श्री नेमीचंद्र जैन की कविता (ऐसा क्या देखा—जून, 2001) और श्री नन्दकिशोर आचार्य की कविता (घर उसकी स्मृति में—जून, 2003)** भी उल्लेखनीय हैं।

नैतिकता और धार्मिकता

यद्यपि 'जैन भारती' पूरी की पूरी नैतिकता व आध्यात्मिकता को समर्पित पत्रिका है, पर नैतिकता की संकल्पना को भी स्पष्ट किया जाता रहा है। नीतिशास्त्र की व्याख्या **डॉ. ओम कुबेरा (आर्थिक क्रियाओं में नैतिकता—अगस्त, 2004)** ने की है—'हम नीतिशास्त्र को एक ऐसी आचार संहिता कह सकते हैं जो व्यक्ति को दूसरों के साथ व्यवहार करने के लिए मार्गदर्शन करती है जिससे उसका आचरण मानव जाति के लिए कल्याणकारी

बन सके।' **आचार्यश्री महाप्रज्ञ (दिशा बोध—जनवरी, 2002)** नैतिक मूल्यों के संकट की चर्चा करते हुए कहते हैं—'आज हर आदमी का लक्ष्य बना हुआ है—अधिकतम उपभोग, अधिकतम सुविधा और अधिकतम धन। आज नैतिक मूल्यों की समस्या पर गंभीर चिंतन होना चाहिए।' इसी चिंता को आगे **श्री शुभू पटवा (संपादकीय—प्रसंग—सितंबर, 2003)** इस प्रकार प्रकट करते हैं—'मनुष्य की नैतिकता का सबसे बड़ा आधार उसका आचरण ही हो सकता है, पर हम देखते हैं कि जो कुछ कहा जाता है—वह किया नहीं जाता और जो कुछ किया जाता है—वह कहा नहीं जाता। यह विरोधाभासी स्थिति है और शीर्ष पर बैठे लोग, जो समूचे समाज को नेतृत्व देने की स्थिति में हैं, ऐसा विरोधाभासी जीवन जी रहे हैं।' **श्री चंद्रशेखर व्यास (नैतिकता अर्थपूर्ण जीवन के लिए—जून, 2004)** लिखते हैं कि—'अगर हम नैतिक न हों, नहीं बनना या रहना चाहें तो हम 'हाब्स' द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था में पहुंच जाएंगे जिसमें समाज तहस-नहस हो जाएगा। नैतिक जीवन बाहरी सामाजिकता के दृष्टिकोण तथा आंतरिक निजी जीवन के दृष्टिकोण—दोनों ओर से आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है।'

पर विचार यह भी करना है कि नीति व धर्म एक ही हैं या अलग-अलग और नीति का स्वरूप क्या है? कहा जाता है कि नीति अनिवार्य रूप से धर्म नहीं है। धर्म अनिवार्य रूप से नीति है। धार्मिक व्यक्ति नैतिक है ही, उसे नैतिक होने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता। केवल बाहरी आचरण ही हो तो नीति धोखा भी हो सकती है, जब तक भीतर से धर्म के संगीत से न जुड़ी हो। धर्म का अर्थ है व्यक्ति का अपने एकांत में अपने से ही व्यवहार। **आचार्यश्री महाप्रज्ञ (दिशा बोध—जून, 2001)** कहते हैं कि—'नीति धर्म हो सकती है पर यह धर्म ही है, यह नहीं होता। धर्म आत्मा से अभिन्न होता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। नीति समय-समय पर बदलती रहती है।' **डॉ. बच्छराज दूगड़ (नैतिकता की मौलिक समस्याएं—अगस्त, 1999)** आयारो के उल्लेख से बताते हैं कि—'आचार सापेक्ष अर्थात् परिस्थिति के आधार पर बदलने वाले और निरपेक्ष अर्थात् हमेशा एक ही रहने वाले होते हैं। इन आचार के दोनों स्वरूपों को क्रमशः नीति और धर्म कहा जा सकता है।' **महात्मा गांधी (किसे कहें नीति—अगस्त, 2000)** के अनुसार 'सच्ची नीति में धर्म का समावेश अधिकांश में हो जाता है। जो अपने स्वार्थ के लिए नहीं, बल्कि नीति के खातिर नीति के नियमों का पालन करता है, उसको धार्मिक कह सकते हैं।' शेक्सपियर का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि—'जो प्रीति लाभ की दृष्टि से की गई हो वह प्रीति नहीं है।'

श्री वी. एम. तारकुंडे (धर्मनिरपेक्ष नैतिकता—अक्टूबर, 2000) नैतिकता की विशद परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि किसी व्यक्ति के आचरण को तब तक नैतिक नहीं कहा जा सकता जब तक वह स्वेच्छा और बिना किसी भौतिक अथवा धार्मिक दबाव के न किया गया हो। उन्होंने यूनानी दार्शनिक ऐपीक्यूरस के कथन को भी उद्धृत किया—'मैं नैतिक आचरण ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए नहीं, वरन् स्वयं अपने को प्रसन्न करने के लिए करता हूं।' नैतिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए श्री तारकुंडे ने धर्म की आवश्यकता नहीं, पर तर्क को अपनाने की आवश्यकता बताई। उन्होंने कहा कि—'मानव में अपनी इच्छा को बदलने की शक्ति है। बड़े होने पर यह प्रक्रिया उसे स्वयं ही निश्चित करनी पड़ती है। वह अपने पुराने अनुभवों से सीखता है। अनुभवों से सीखना उसकी तर्कशक्ति पर ही संभव है, अतः कहा जा सकता है कि तर्क उसकी इच्छा को मोड़ने में मुख्य प्रभाव डालता है। मानव की इच्छाशक्ति इसीलिए स्वतंत्र मानी जाती है, क्योंकि व्यक्ति बहुत-कुछ उनको स्वयं निश्चित करता है।'

श्री वी. एम. तारकुंडे एक प्रक्रिया बताते हैं—धार्मिकता की ओर बढ़ने की। परंतु उपरोक्त सारी चर्चा के आधार पर यह नहीं समझा जा सकता कि जब तक कोई नैतिक नहीं होगा, तब तक वह धार्मिक नहीं हो सकता। सचाई तो इसमें है कि जब तक कोई धार्मिक नहीं होगा, तब तक उसकी नैतिकता बाहर से थोपी हुई, अस्थाई होगी। वह प्राणों का प्राण नहीं बन पाएगी, आत्मिक नहीं होगी। जो नीति किसी भय, लोभ, प्रतिष्ठा, सुविधा के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि नैतिक होने में आनंद मिलता है, अनीति में दुख मानकर अपनाई जाती है, वह नैतिकता ही धार्मिकता बन जाती है। 'जैन भारती' में दिए निबंधों के पीछे यही उद्देश्य है कि सभी सही नैतिकता, धार्मिकता, आध्यात्मिकता से आप्लावित हों। श्री वियोगी हरि (नीति-अनीति—अप्रैल, 2000) और श्री एम. हिरियन्ना (कला और नैतिकता—जुलाई, 2003) भी इसी ओर इंगित करते हैं।

उत्थान के सूत्र

भगवान महावीर ने कहा है 'हयं नाणं कियाहीणं, हया

अण्णाणओ किया'—अर्थात् क्रियाविहीन ज्ञान व्यर्थ है और अज्ञानियों की क्रिया व्यर्थ है। भगवान कृष्ण ने वृथाज्ञान वालों को अज्ञानीजन बताया है और उसी ज्ञान को सार्थक बताया है जिसके जानने से जीवन में रूपांतरण हो। कितना कोई जानता है, इससे ज्ञान का संबंध नहीं है। वह कितना बदला है, कितना डूबा है, कितना गहरा गया है—उससे ज्ञान का संबंध है। कितना तैरें और कहां गहरे जाएं, यह आत्म-ज्ञान से भी जाना जा सकता है, परंतु यदि कोई तैराक निर्देशन करे, शास्त्र भी बताए तो काम जल्दी व थोड़ी आसानी से हो सकता है। 'जैन भारती' ने यह कार्य भी बखूबी निभाया है और उन बिंदुओं, क्षेत्रों, कार्यों पर प्रकाश डाला है जो बदलने में सहायक हो सकते हैं। ऐसे सूत्र—जहां ज्ञान का प्रयोग, लक्ष्यों का संधान हो सकता है, आधारिक बात की है—**साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा (जागें अपने लक्ष्य के प्रति—मई-जुलाई, 1999)** ने कहा है कि—'निश्चय नय के अनुसार व्यक्ति को कुछ करना नहीं है। जो कुछ भीतर है, उसे पाना है, किंतु व्यवहार नय का अभिमत है कि विकास के लिए हाथ-पैर हिलाने जरूरी हैं, अभीष्ट की ओर प्रस्थान आवश्यक है।' लक्ष्यों के चुनाव की बात करते हुए उन्होंने चार बातों पर बल देने का सुझाव दिया है—शांतिपूर्णता, उद्देश्यपूर्णता, उत्पादकता और विकासोन्मुखता। फिर धीरे-धीरे जीवन शांतिमय, सरल, ऋजु व धार्मिक बनता जाएगा।

सोच

भगवान बुद्ध ने कहा है, तुम जैसा सोचोगे, वैसे ही हो जाओगे या तुम जैसे हो गए हो, वह तुम्हारे सोच का ही परिणाम है। **मुनि प्रशांतकुमार (कैसा सोचें, कब सोचें, कितना सोचें—जुलाई, 2002)** ने सोच को सकारात्मक बनाकर मुक्ति मार्ग पर बढ़ने का संदेश दिया है। वे कहते हैं—'जीवन की भागमभाग और उसमें उत्पन्न होने वाले नकारात्मक विचार असल में समूचे शरीर तंत्र को प्रभावित करते हैं। एड्रनलिन जैसे रसायन शरीर में भारी मात्रा में पहुंचते हैं, जिससे नाड़ी की गति और रक्तचाप तेज हो जाते हैं। सकारात्मक चिंतन व्यक्ति की दृष्टि को ही बदल देता है। वह व्यक्ति कठिनाई में ही आनंद की अनुभूति कर लेता है। अतः अपने को मजबूत बनाने वाले विचारों को ही महत्त्व देना चाहिए।' अपने ऐसे ही लेख **(भीतर है शक्ति के अक्षय स्रोत—दिसंबर, 2002)** में बताया है कि—'जिस प्रकार घर साफ रखने के लिए घर का कूड़ा-करकट प्रतिदिन साफ करना होता है, उसी तरह हमें मन के कचरे को प्रतिदिन साफ करना चाहिए। दीनता, हीनता, चिंता, भय, संदेह, ईर्ष्या, वैर-विरोध के जो विचार हैं, ये सब विचार उस कचरे के समान हैं जो अनेक प्रकार की बीमारियों के कारण बनते हैं। वस्तुतः सकारात्मक विश्वास ही अप्रतिम ऊंचाइयों तक पहुंचा सकता है।'

सुख-दुख

सुश्री इंदु टीकेकर (सुख-दुख से इक परे परम पद—फरवरी, 2001) के अनुसार—'मनुष्य को संसार की बाह्य दौड़ उतना नहीं थकाती जितनी मन की अतृप्त दौड़, स्पर्धा, तनाव और बुद्धि की अनिश्चितता और अनिर्णय हैरान करते हैं, थका देते हैं।' मनुष्य का स्वभाव शांति का, आनंद का है, परंतु मिल रहा है—दुख और अशांति। **चतरसिंह मेहता (आनंद : भीतर के स्वरूप की पहचान—जून, 2002)** लिखते हैं कि—'यदि मनुष्य अपने भीतर उतर कर तथ्य का निरीक्षण करे कि मैं कौन हूं, मैं क्या हूं, मैं क्यों हूं, मैं क्या चाहता हूं, तो सचाई से आत्मसात हो सकता है, अनावश्यक दौड़ समाप्त हो सकती है। **समणी मल्लिप्रज्ञा (अज्ञानं खलु कष्टं—अप्रैल, 2004)** ने दुख की विशद व्याख्या करते हुए दुख दूर करने के रास्ते बताए हैं—योगासन, स्वाध्याय, प्रेक्षाध्यान आदि। **चतरसिंह मेहता (सुख और दुख : सत्य या सपना—जनवरी, 2004)** ने कहा है कि—'सुख जब तक नहीं मिलता तब तक तो सुख मालूम पड़ता है, पर हाथ में आने से लगता है कि अचानक खो गया, फिर नए सुख की तलाश जारी हो जाती है। जो व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की सीमा पहचान लेता है, उसके जीवन में सुख का अवतरण शुरू हो जाता है।'

वाणी

मनुष्य समाज का अंग है और आपसी संबंध स्थापित करने का माध्यम भाषा है। **समणी सत्यप्रज्ञा (क्या कहें, कैसे कहें, क़ब कहें—दिसंबर, 2001)** ने—'बेन्जामिन फ्रेंकलिन का उद्धरण देते हुए लिखा है कि उतना ही बोलो जिससे तुम्हारा अपना या दूसरों का लाभ हो। व्यर्थ बातचीत मत करो। मौन रहो। मौन तुम्हारे साथ कभी विश्वासघात नहीं करेगा।' **साध्वी कांतयशा (मत बोलो अणगमती वाणी—अक्टूबर, 2002)** के अनुसार— 'मौन का आलंबन लेने का तात्पर्य न बोलना नहीं है, अपितु विवेकपूर्ण बोलना है। यही स्थिति स्पष्ट करती है कि कैसे बोलें, क्या बोलें? कम

बोलने वाले व्यक्ति का सम्मान बढ़ता है और उसके भाषा के पुद्गल सबको सुहावने लगते हैं। अतः जीवन निर्माण के लिए अपेक्षित है—व्यक्ति भाषा समिति का सम्यक् उपयोग कर सत्-चित्-आनंद का अनुभव करे।' **समणी सत्यप्रज्ञा (शब्द सृजन भी, संहार भी—अप्रैल, 2003)** ने बताया कि—'शिष्ट, सौम्य हास्य जीवन का स्वर्ग माना जाता है। मुस्कान बता देती है कि आपका हृदय निर्मल है। पर कई बार कुटिल बुद्धिकौशल से यही हंसी ग्रंथियों पर आवरण डालने या नई ग्रंथियां बांधने के लिए प्रयुक्त हो जाती है। इसलिए हास्य के संबंध में विशेष सावधानी की अपेक्षा रहती है।' **समणी भावितप्रज्ञा (बोलो वचन विचार—अगस्त, 2004)** ने सटीक उदाहरणों द्वारा वाणी संयम पर बल दिया है। वे लिखती हैं कि—'वाणी जीवन का दर्पण है। समझदार जन चिंतन ज्यादा करते हैं, बोलते कम हैं। वचन जिंदगी दिलाने वाला भी है और जिंदा जलाने वाला भी है। मीठे वचन का मीठा फल व कटु वचन का कटु फल मिलेगा। प्रिय, हितकर बात कहने पर दिल को आनंद मिलता है। अप्रिय और अहितकर वचन सत्य हो तो भी अवक्तव्य है, क्योंकि ऐसा वचन दूसरों के लिए खेद व अनर्थ का कारण बनता है। भाषा-विवेक का प्रयोगकर्ता स्व-पर कल्याण करता हुआ जीवन को सुखमय, शांतिमय व निरामय बना लेता है।'

अनुशासन

मन बड़ा चंचल है। चित्त एकाग्र नहीं होता। **आचार्यश्री महाप्रज्ञ (अनुशासन : एक मानसिक प्रशिक्षण—नवंबर, 2003)** बताते हैं कि—'अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति की आंतरिक चेतना को बदलना ही अनुशासन का आधार है। इसके बिना कोई परिवर्तन सफल नहीं हो सकता। आध्यात्मिक आस्था है कि हर व्यक्ति में बदलने की क्षमता है और उपयुक्त परिस्थिति उपलब्ध होने पर वह बदल सकता है। सबसे पहले हमें वृत्ति बदलनी पड़ेगी—एक आवेगों पर अनुशासन और दूसरा इंद्रियों पर अनुशासन। परिवर्तन आ सकता है—भीतर प्रवेश से, परिवर्तनों के अनुभव, प्रेक्षाध्यान और उसके माध्यम से जैविक रसायनों के परिवर्तन से। सत्य की आस्था को जगाया जाए तो अनुशासन के लिए पृथक से परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है।'

इसी प्रकार 'जैन भारती' के हर अंक में जीवन के कई आयामों व सूत्रों पर चर्चा होती रहती है। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है—'असशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'—मन चंचल है, कठिनता से वश में होता है। वह अभ्यास और वैराग्य से वश में हो सकता है। वैराग्य का यहां अर्थ है—विषयों से मुक्ति व स्वयं की ओर यात्रा। भगवान महावीर ने भी कहा है—'नाणमेगग्गचितो अ, ठिओ अ ठावयई परं। सुआणि अ अहिज्जिता, रओ सुअसमाहिए'—अर्थात् अध्ययन के द्वारा व्यक्ति को ज्ञान होता है, वह स्वधर्म में स्थित होता है। आत्मा तो ज्ञान है, पर सोया हुआ ज्ञान भी हो सकता है और जागा हुआ ज्ञान भी हो सकता है। ज्ञान यदि सोया हुआ हो तो उसके चारों ओर अज्ञान इकट्ठा हो जाता है। आत्म-ज्ञान और आत्म-अज्ञान में केवल जागे हुए और सोए हुए का ही अंतर है। स्वाध्याय के लिए निरंतर सद्-सामग्री प्रस्तुत कर **'जैन भारती'** सोए हुओं को जगाने और उन्हें स्वयात्रा के माध्यम से विषयों से मुक्ति की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रही है। स्थिति में परिवर्तन संभव है। अभ्यास व भाव के रूप में यह तीर्थयात्रा चाहे साथ हो या अकेले में—जारी रहनी चाहिए। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

बंधनों की मुक्ति, कार्यों की स्वच्छता, वाणी की मधुरता, हृदय की फौलादी मजबूती एवं सकारात्मक चिंतन के लिए आसक्ति, लोभ, काम, क्रोध, मान, ईर्ष्या, भय, अज्ञान और प्रतिक्रियावादी जीवन को त्यागना आवश्यक है। सही स्वतंत्रता तभी मिल सकती है

लोकसत्तात्मक राष्ट्र का आधार

❑ *मुनि धर्मचंद 'पीयूष'* ❑

हर मनुष्य, पशु-पक्षी बंधन-मुक्त रहना पसंद करते हैं। स्वतंत्रता का मूल्य हीरा-पन्ना, माणक-मोती या सोना-चांदी से भी अधिक है। स्वतंत्रता अमूल्य है। स्वतंत्रता में जो सुख है, कहीं भी अन्यत्र मिल नहीं सकता।

जयदेव कृष्णनगर का प्रजावत्सल नरेश था। एकबार स्वर्ण पिंजरे में बंद एक भव्यमूर्ति राजा जयदेव के सामने लाई गई। मूर्ति के चेहरे पर उदासी झलक रही थी। उस पिंजरे को एक खेल के मैदान में रखकर राजा ने घोषणा करवाई कि—'जो इस मूर्ति की उदासी का सही कारण बताएगा, उसे भारी इनाम दिया जाएगा।' लोगों ने मूर्ति की उदासी के विभिन्न कारण बताए, किंतु राजा जयदेव उनसे संतुष्ट नहीं हो सके। इतने में एक सीधा-साधा किसान भीड़ को चीरते हुए राजा के सामने उपस्थित हो कहने लगा—'अन्नदाता! मेरे विचार में इसकी उदासी का कारण है—गुलामी। इतनी दिव्य मूर्ति को पिंजरे में रखा गया है, भले ही वह सोने का भी क्यों न हो। किसान के इस समुचित उत्तर से राजा परम संतुष्ट हो गए। सच में गुलामी ही सबसे बड़ा अभिशाप है।

—26 जनवरी—
गणतंत्र दिवस

आत्म-विकास के समान अवसर देने वाले और आत्म-स्वातंत्र्य के प्रखर प्रवक्ता भगवान महावीर ने कहा है—'किसी की स्वतंत्रता का हनन करना, अधीन बनाना हिंसा है। वे कहते हैं—मैं अनुयाई नहीं, सत्यद्रष्टा बनाना चाहता हूं। मतिमान्! सत्य तत्त्व को स्वयं जानो, सत्य का आचरण करो। मैं कहता हूं, इसीलिए स्वीकार मत करो।' आत्म-स्वातंत्र्य के लिए उनका उत्प्रेरक प्रवचन परम सत्यद्रष्टा का ही प्रवचन ही हो सकता है। भगवान बुद्ध का यह कथन—'परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं, मद् वचो न तु गौरवात्'—आत्म-स्वातंत्र्य का उद्घोषक कथन कहा जा सकता है। सत्य कभी दो नहीं हो सकते। कोई भी व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र होकर ही आत्महित साध सकता है। पिंजरे में जकड़ा शेर, स्वतंत्र होकर ही सिंहत्व का प्रदर्शन कर सकता है। स्वर्ण पेटी में बंद पड़ा उन्नत बीज किस काम का। अपनी शक्ति के विस्फोटन की स्वतंत्रता पाकर ही वह फल-फूल सकता है।

कोई भी पराधीन राष्ट्र कभी अभीष्ट विकास नहीं कर सकता। पराधीनता में न उसकी अपनी भाषा होती है, न शिक्षण-प्रशिक्षण, न संस्कार और न स्वतंत्र चिंतन का अवकाश ही उसे मिल पाता है। परतंत्रता में सही स्वर का गला भी घोंट दिया जाता है, उसके चिंतन, उसके विकास का मार्ग अवरुद्ध कर दिया जाता है। गुलामी का इतिहास इन तथ्यों का प्रमाण है।

विश्वगुरु, चरित्रनिष्ठ भारत पराधीनता के प्रलंब काल में आर्थिक, शैक्षणिक, सांस्कृतिक दृष्टि से अपार हानि झेल चुका है। भारत की भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि से आकृष्ट होकर न जाने कितने आक्रांता आए और अतुल श्री-संपदा लूट गए। उन्होंने भौतिक समृद्धि को ही नहीं लूटा, समृद्ध संस्कारों में भी घालमेल कर दिया। आत्मा को कमजोर बनाने वाली शिक्षा प्रणाली थोपी गई और मानसिक दृष्टि से देश को गुलाम बना दिया। स्वतंत्रता के महत्त्व को समझने वाले जब जगे और आह्वान किया तो उनकी हुंकार पर भारत का शौर्य फिर से जाग उठा। पराधीनता से मुक्त होने का अभियान चला। देश की स्वतंत्रता के लिए हंसते-हंसते अनेक जन शहीद हुए, और अंतिम सांस तक वे—'वन्दे मातरम्' ही गाते रहे।

भारत की आजादी के लिए ज्ञात-अज्ञात बलिदानी स्वतंत्रता सेनानियों के अरमान थे कि भारत स्वतंत्र, समृद्ध और सुखी-संपन्न राष्ट्र बने। भारतीय संस्कृति, सभ्यता और संस्कारों का उन्नयन हो। देश सदाचार, पवित्र-विचार व मधुर व्यवहार का उदाहरण बने। अन्याय, शोषण, विषमता और असमानता से उत्पन्न अभाव के आंसू किसी की आंखों में नहीं हों। जाति, लिंग, रंग, संप्रदाय की कट्टरता से मुक्त भाईचारा हो। हर किसी को स्वतंत्र धर्मोपासना व विकास के समान अवसर मिलें। इस पवित्र ध्येय के साथ अनोखे त्याग, शौर्य, धैर्य एवं चरित्र-बल से संपन्न स्वतंत्रता सेनानियों ने ब्रिटिश महाशक्ति से लोहा लिया। अहिंसक शक्ति का प्रचंड बल प्रदर्शित हुआ। फलतः भारत स्वतंत्र हुआ। पर, राष्ट्र को समृद्ध और सशक्त बनाने वाली साधना और चरित्र का अभाव शीघ्र ही परिलक्षित होने लगा। नैतिकता, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा जैसे जीवनमूल्यों को ताक पर रख दिया गया। वैयक्तिक-सामाजिक जीवन में घोर पतन के प्रतिमान स्थापित होने लगे। राष्ट्रीय कर्तव्य के प्रति उदासीनता तथा दायित्व-बोध के अभाव में पनपी आंतरिक दुर्बलता से देश की अखंडता, सुरक्षा व गौरव को चुनौती मिलने लगी। अब उदारीकरण के नाम पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन व पाश्चात्य प्रभाव से पतन, पराभव और परावलंबन का शिकंजा मजबूत होता नजर आ रहा है। असहिष्णुता, जातीय विद्वेष, सांप्रदायिक हिंसा, अलगाववाद, अराजकता के जिस मोड़ पर आज देश खड़ा है, वह तस्वीर अतीव भयावह है। राष्ट्रीय साधना-संपन्न लोग अब दुर्लभ होते जा रहे हैं। विकास ही विनाश का पर्याय और राजनीति को स्वार्थ-सिद्धि व शोषण का हथियार समझा जाने लगा है। भ्रष्टाचार अब स्वीकृत अनिवार्य अंग बन रहा है।

स्वस्थ लोक-सत्तात्मक राष्ट्र तभी पनप सकता है, जब प्रत्येक व्यक्ति में राष्ट्रीय चरित्र एवं कर्तव्य के प्रति जागरूकता के भाव प्रबल हों। स्वतंत्रता में अधिकार ही नहीं, कर्तव्य का विचार भी प्रधानतः होना चाहिए। स्वराज्य का मूलाधार स्व-नियंत्रण एवं लोक-कल्याण से अनुप्राणित कर्तव्यपालन ही होता है। जहां त्याग, अपरिग्रह और एक-एक व्यक्ति के प्रति आत्म-समानत्व का भाव विकसित होता है, वहीं स्वतंत्रता सुफलदाई सिद्ध होती है।

स्वतंत्रता का अर्थ ही आत्मानुशासन है। यदि आत्मानुशासन प्रखर है, राष्ट्रीय चरित्र और कर्तव्य-दायित्व के प्रति जागरूकता के प्रबल भाव हैं तो स्वतंत्रता वरदान सिद्ध होती है। लौहपुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल का कथन बड़ा मार्मिक है—'हमें सत्ता मिली है, इसलिए हमारे लिए अनिवार्य हो गया है कि हमारे हाथ (कार्य) स्वच्छ हों, हमारी वाणी विनम्र हो, हमारे हृदय (मानस) मजबूत हों और हमारी दृष्टि सुस्पष्ट हो।' भागवत का एक मार्मिक कथन है—उदर-पूर्ति या आवश्यकता-पूर्ति के लिए जितना जरूरी है, उससे अधिक संग्रह करने वाला और जनता के पसीने की गाढ़ी कमाई पर सुख-सुविधा भोगने वाला अपराधी है, दंड का पात्र है।

स्वयं के स्वयं पर सविवेक अनुशासन का नाम अणुव्रत है। अणुव्रत के छोटे-छोटे नियम हैं, जिनकी अनुपालना पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान करने में सहायक सिद्ध हो सकती है। राग-द्वेष से उत्पन्न आसक्ति, ईर्ष्या, अहं, दुर्व्यसन आदि के बंधनों को तोड़े बिना स्वतंत्रता वरदान नहीं बन सकती। जब तक ये बंधन हैं, स्वतंत्रता का स्वाद आ नहीं सकता, बल्कि कहना चाहिए स्वतंत्रता आत्मघातक बन जाती है। लेकिन अणुव्रत के छोटे-छोटे नियम हरएक वर्ग और जाति-समाज को ऐसे आत्मघात से बचाने में सक्षम हैं।

बंधनों की मुक्ति, कार्यों की स्वच्छता, वाणी की मधुरता, हृदय की फौलादी मजबूती एवं सकारात्मक चिंतन के लिए आसक्ति, लोभ, काम, क्रोध, मान, ईर्ष्या, भय, अज्ञान और प्रतिक्रियावादी जीवन को त्यागना आवश्यक है। सही स्वतंत्रता तभी मिल सकती है।

अणुव्रत के साथ-साथ महापर्व पर्युषण भी राग-द्वेष को क्षीण करने, ईर्ष्या, क्रोध, मद को छोड़कर आत्मा को सरल शुद्ध और विकारमुक्त बनाने का माध्यम बन सकता है। सच्ची स्वतंत्रता—आत्मनियंत्रण और कामना-वासना पर संयम से ही आ सकती है। जप और ध्यान द्वारा विकारों और विभावों पर विजय पाने, आत्मालोचन तथा अतिक्रमण के प्रतिक्रमण से आत्मा को भावित किया जा सकता है। आज देश को सही स्वतंत्रता की सख्त जरूरत है। आत्म-स्वतंत्रता के लिए अणुव्रत उत्प्रेरक आधार बन सकता है।

हम जिस स्वस्थ और सुदृढ़ लोकतंत्र की आकांक्षा रखते हैं, उसकी पूर्ति अणुव्रत और पर्युषण पर्व के निर्मल संदेश में निहित है। लोकतंत्र मजबूत होगा तभी स्वतंत्रता को स्थाईत्व मिल सकता है और लोकतंत्र की मजबूती के लिए अणुव्रत व पर्युषण पर्व संबल सिद्ध हो सकते हैं। ❖

क्या तुम भी जाने-अनजाने इसी दुर्बलता का शिकार नहीं होती रही हो? सवाल है : यह सब जानते-बूझते भी हम आखिर कब तक इस दुश्चक्र में छटपटाते रहेंगे? हम अब अपनी उम्र की चढ़ाई पर नहीं, उतार पर हैं और उतरने में, तुम तो जानती ही हो, बड़ी सावधानी की जरूरत हुआ करती है। एक कदम भी गलत पड़ा नहीं कि हम लुढ़क कर सीधे गर्त में पहुंच सकते हैं। मुझे लगता है, दमयंती, मैं भी इस वक्त एक गर्त में पड़ा हुआ हूं और वहीं से तुम्हें आवाज दे रहा हूं। हालांकि, यह सच है, कि मैं जहां पहुंच चुका था, वहां से उतरते हुए नहीं, बल्कि अपनी समझ से, एक ज्यादा ऊंची चोटी पर चढ़ने की कोशिश करते हुए ही फिसला हूं। तुम मेरे साथ होती तो शायद नहीं फिसलता। तुम्हें पीछे छोड़कर, तुम्हारे बिना ही अपने अकेले दम पर यह चढ़ाई चढ़ने के चक्कर में ही शायद फिसल पड़ा हूं

कहानी

आत्म-ज्ञान की देहरी पर

❑ रमेशचंद्र शाह ❑

प्रिय दमयंती,

तुम्हारी डांट खाकर मुझे बहुत अच्छा लगा। यह दमयंती नाम तुम्हारा जिसने भी रखा—बहुत दूरदर्शी रहा होगा वह। तुम तो बस, इसी तरह दमन करती रहो मेरा। मैं मजाक नहीं कर रहा; सच कह रहा हूं। चाहो तो मेरा भी नाम बदल कर तुम नल रख दो। सच में, कैसे जन्मजात जुआड़ी से पल्ला पड़ा है तुम्हारा! यह अब तुम्हारी समझ में आया ना? पहले ही आ जाना था। वैसे, पहले भी आ जाता तो क्या सचमुच बहुत बड़ा फर्क पड़ जाता? जुआ तो, तुम जानती ही हो, मैं पहले भी खेलता रहा हूं। मगर इस बार दावं जरा ज्यादा ही गहरा लगा बैठा। नहीं जानता, मैंने यह क्या किया! हर बार की तरह शायद इस बार भी मुझसे अपने सामर्थ्य को आंकने में भूल हुई। मगर यह सब तो घटना घट जाने के बाद की समझदारी हुई ना! पहले से हिसाब-किताब करके तो कोई जुआ खेलने नहीं बैठता। खेले, तो वह जुआड़ी किस बात का?

सुनो, तुम मेरा पिंड कब छोड़ोगी? उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते ऐसा घेराव तुमने कर रखा है मेरा, कि क्या बताऊं! इस घेराव को तोड़ने के लिए ही न मैं भाग निकला था? ऐसी भरी-पूरी गिरस्ती, ऐसी मित्र-मंडली और ऐसी बढ़िया नौकरी! आदमी के बच्चे को आखिर इससे ज्यादा और क्या चाहिए? तो क्या अंततः मैं कुल मिलाकर एक मनोवैज्ञानिक मामला ही हूँ? उससे अधिक कुछ नहीं? मैंने कई बार तुम्हारी आँखों से अपने को देखने की कोशिश की है—इस उम्मीद में, कि मैं खुद अपनी नजरों में जैसा दीखता हूं, शायद उससे बेहतर दीखूं। आत्मज्ञान की बड़ी महिमा गाई गई है अपने यहां। सारे-के-सारे दर्शन इसी की बात करते हैं। मगर, अभी तक का मेरा अनुभव तो यही है कि यह आत्मज्ञान एक दहला देने वाली चीज है। जीवन का आनंद उठाना हो तो इस चक्कर से दूर ही रहना ठीक है। कम-से-कम, उसके लिए उतावली दिखाने की तो कोई जरूरत नहीं है। हां, एक उम्र के बाद, बहुत-कुछ देख और भोग चुकने के बाद, जब वृत्तियां अपने-आप शिथिल और अंतर्मुखी होने लगें, तभी इस ओर रुख करना चाहिए। तुम सोच रही होगी, मैं तुम्हें चिट्ठी लिखने बैठा हूं या डायरी लिखने? शायद दोनों काम एक साथ कर रहा हूं। शायद चिट्ठी के बहाने डायरी ही लिख रहा हूं। पर मैं अभी इस क्षण जितना तुम्हारे पास हूं, उतना शायद सचमुच पास बैठकर भी नहीं होता।

मैं क्या कहने जा रहा था? यही, कि मैं तो इसी विश्वास और निश्चय के साथ तुमसे इतनी दूर यहां भाग आया था कि मैं आत्मज्ञान की एक सर्वथा अचीन्ही राह पर आगे बढ़ रहा हूं। जबकि, अब जाकर मुझे पता चल रहा है कि यह दरअसल आत्मज्ञान की अनवरत यातना से बच निकलने की ही राह थी। तुम कहोगी यह तो पीछे लौटना है, 'रिग्रेशन' है। चलो, मैं माने लेता हूं फिलहाल, कि है। परंतु यह मैंने नहीं, तुम्हीं ने कहा है कि मैं पिछले पच्चीस बरसों के दौरान यहां कितनी बार आया हूं और कितने थोड़े-थोड़े दिनों के लिए? लंबी-लंबी छुट्टियां भी हमने कभी यहां नहीं बिताईं। आखिर क्यों? क्या इसी से यह साबित नहीं हो जाता कि यह 'रिग्रेशन' का मामला तो हो नहीं सकता। तुमने मुझे लिखा है, कि मैंने कभी नहीं चाहा—कि तुम मेरे इस परिवेश में, यानी मेरे अतीत, मेरे बचपन की दुनिया में हिस्सा बंटाओ! जरा सोच के तो देखो दम्मो, क्या तुम्हारा यह आरोप सच है? क्या यह सरासर अन्याय ही नहीं है मेरे प्रति? मुझे एक बहुत पहले पढ़ी हुई कविता याद आ रही है—कविता क्या, कविता की पंक्ति—जो, जब पहली बार पढ़ी थी, तब बहुत ही वाहियात लगी थी। पर, अब जाकर उसमें मुझे एक ऐसी कड़वी सचाई नजर आने लगी है, जिसे न तो निगलते बनता है, न उगलते। '...फॉर ईच मैन किल्स द थिंग ही लव्ज/बाई ईच लैट इट बी हर्ट....'कितनी थर्रा देने वाली बात है यह?....कि 'आदमी उसी को नष्ट करने को अभिशप्त है, जिसे वह सर्वाधिक प्यार करता है।' .....कितना अच्छा है कि सौ में निन्यानबे लोग कभी अपने अंतर्मन को, अपनी असली भावनाओं को समझने की कोशिश नहीं करते, आत्म-विश्लेषण और आत्म-ज्ञान के जोखम में नहीं पड़ते। क्यों पड़ें? उससे क्या हासिल होता है सिवा यातना और ग्लानि के? जिसे वैराग्य कहा जाता है, वह भी आखिर क्या है? इसी सचाई का ही बोध न, कि राग-मात्र दुख है, कि जहां राग है, वहां द्वेष भी अनिवार्य है? विशुद्ध राग जैसी तो चीज ही असंभव है। राग और द्वेष का द्वंद्व हर जगह है। द्वंद्वातीत होना ही दुख से मुक्त होना है और वह जीते-जी भला कैसे संभव है?

बड़ी फलसफाना लफ्फाजी लग रही होंगी ना मेरी बातें तुम्हें? मगर मैं तो फिलहाल इन्हीं से घिरा हुआ हूं। कैसे इस घेराव को तोड़ूं, मेरी समझ में नहीं आ रहा। अतिशयोक्ति तो कविता में होती ही है। मगर क्या ऐसा नहीं लगता कि यहां वह अतिशयोक्ति अनुभव की दुर्दांत सचाई को उघाड़ने के लिए ही की जा रही है। मगर किसलिए? आखिर इस उद्घाटन की क्या सार्थकता है? यही न, कि हम रोग की जड़ों तक जाएं—अपने-अपने अहं की कारा में बंदी होने की इस विडंबना को समझकर ही तो हम इससे उबरने की संभावना को भी पहचान सकेंगे। बिना किसी आत्म-प्रवंचना के। संवेदनशील होना पर्याप्त नहीं है, मानव-मन की जानकारी होना भी पर्याप्त नहीं है, उससे तो अहं और तीखा हो जाता है। बहुत घिसा-पिटा शब्द है एक : करुणा, जिसका अर्थ कोई नहीं जानता। पर जिसे जाने बिना उस विडंबना का—दुर्निवार हिंसा और आत्म-प्रवंचना के इस अंतहीन दुश्चक्र का—कोई इलाज भी तो संभव नहीं है। यह जो प्रेम नाम की जीवनानुभूति है, उसी में स्वर्ग और नरक दोनों अंतर्निहित नहीं? और क्या उन्हें अलगाना संभव है? हमारी उत्कट संवेदनशीलता ही हमारा नरक और स्वर्ग दोनों रचती है। यह अंतहीन जिरह, यह अनवरत अनबन, यह आरोप-प्रत्यारोप.... यह सब क्या है? हमारी एक-दूसरे के प्रति अतलांत आसक्ति ही न? निश्चय ही, हम अपने राग-संबंधों में मिठास-ही-मिठास चाहते हैं, कड़वाहट नहीं। परंतु क्या यह संभव है? क्या हम बार-बार लाख पछतावों और संकल्पों के बावजूद, फिर-फिर उसी दुश्चक्र में नहीं फंस जाते? भला क्यों? इसीलिए न, कि हम अपनी संवेदनशीलता को ही सब-कुछ मान लेने की—राग-संबंधों की सचाई का भी मानदंड मान लेने की—लाइलाज भ्रांति के शिकार हैं? हम रोग की जड़ों में बैठने की बजाए उसके लक्षणों की ही झाड़-फूंक करके रह जाते हैं। उसी से रोग का उन्मूलन कर डालने की दयनीय दुराशा में लिथड़े रहते हैं। मैं सतही आशावाद और सतही निराशावाद दोनों से परे की बात कर रहा हूं। और यह उपदेश नहीं, आत्मोद्बोधन है। हम सभी बेहिसाब असंगतियों और कमज़ोरियों के पुतले हैं और उन्हें जानकर भी नहीं जानते; क्योंकि आत्म-ज्ञान बहुत उत्पीड़क और असह्य होता है और उससे कतराते रहना ही हमारी मनुष्यता है, हमारी नियति। हम बने ही कुछ इस तरह हैं कि अपने अहं को लगने वाली जरा-सी ठेस भी हमें सहन नहीं होती। जिसे हम अपना प्रेम समझते हैं वह दरअसल बड़े सूक्ष्म तरीकों से हमारे इस अहं को ही पुष्ट करने वाली चीज है। दूसरे के दूसरेपन को नकारने-मिटाने वाली चीज। जिसमें अपनी नहीं, दूसरे की चेतना को हथियाने की, उस पर कब्जा जमाने की लिप्सा ही प्रमुख होती है। उसी में वह हिंसा जाने-अनजाने निहित है जिसे वह कविता—जिसका मैंने अभी जिक्र किया—थोड़ा अतिरंजित ढंग से ही सही,

साफ-साफ रेखांकित करती है। यह तथाकथित अद्वैतवासना नहीं, बल्कि अद्वैत का भ्रम है। बेहद रपटीला और खतरनाक। अद्वैत की अनुभूति तो करुणा की अनुभूति है, निर्वैयक्तिक प्यार की अनुभूति है। उसका इस तथाकथित प्रेम से भला क्या लेना-देना?

तुम कहोगी, मैं अपनी ही बात को काट रहा हूं। मगर घूम-फिर कर हमें यहीं आना पड़ेगा कि आत्म-ज्ञान का कोई विकल्प नहीं। पर यह आत्म-ज्ञान तथाकथित आत्म-विश्लेषण या 'साइकोएनेलिसिस' का मोहताज नहीं। वह बिल्कुल ही दूसरी चीज है। उसका सही रास्ता है धारणा, ध्यान, समाधि । उसका रास्ता है अनासक्ति-योग। उसका रास्ता है परंपरा और अनुष्ठान। पर ये तीनों ही रास्ते हमारी आधुनिक संवेदना और आधुनिक बुद्धि के लिए बंद हो चुके हैं। मगर क्यों? उन्हें खोला क्यों नहीं जा सकता? भले ही वे सबसे दुरूह और दुर्गम रास्ते हों। मगर यही तो हमारी सबसे विकट विडंबना है।

मैं जो कहना चाहता था, वह यही, कि आत्म-ज्ञान के रास्ते की सबसे बड़ी बाधा हमारा यह सीमित आत्म यानी अहंकार (ईगो) ही है। इस ईगो को ही अपना असली आत्म मानकर हम उससे चिपटे रहने को अभिशप्त हो गए हैं। आत्मज्ञान की प्रक्रिया चूंकि उस ईगो को ही सबसे पहले ध्वस्त करने की प्रक्रिया है, अतः उससे अधिक पीड़ादाई चीज भला क्या होगी? इसी कारण तो हम उससे कतराते-भागते फिरते हैं। मुझी को देखो, मैं रोज ध्यान में बैठता हूं और ध्यान मेरा अक्सर लग भी जाता है। पर जैसे ही मुझे लगता है, मेरा चित्त अब चुप हो जाने वाला है—जैसे ही मुझे लगता है कि बाहरी जगत के साथ मेरा जो हल्का-सा संबंध-सूत्र है, वह टूटने ही वाला है, मैं घबराकर अपने को कसके पकड़ लेता हूं। अपने को, यानी किसको? अरे, इसी 'ईगो' को, जो मेरी पहचान है, मेरी सुरक्षा। मेरी सामान्य चेतना है। इसलिए तो मैं अब भी जहां का तहां हूं। कायरता के उस क्षण में, मैं यह भी खूब अच्छी तरह पहचानता हूं कि सच्चा आत्म-ज्ञान अपने ईगो की चहारदिवारी से परे अज्ञात में छलांग लगाए बिना संभव नहीं; और वह छलांग लगाने को मुझे प्रेरित किया जा रहा है किसी दैवी शक्ति द्वारा। पर मैं उस प्रेरणा को, उस चुनौती को स्वीकार करने में असमर्थ हूं। एक लत-सी पड़ गई है मुझे रोज ध्यान में बैठने की; और वह इसलिए, कि बिना अपने अहं-वृत्त को तोड़ने का जोखम उठाए, ध्यान की भूमि से सीधे समाधि में छलांग लगा डालने के, उस बिन्दु तक पहुंचने के पहले भी मुझे तरह-तरह की सुखानभूतियां होती हैं, जिनकी मुझे लत-सी पड़ गई है। पर नित्य उसी देहरी को छूकर ही वापस भाग आने की यह जो मेरी मनमानी, लाचारी याकि दुर्बलता है, यह मुझमें कैसी ग्लानि, कैसी आत्म-घृणा उपजाती है, यह मैं ही जानता हूं।

अब, इससे क्या साबित होता है? जो आदमी योग-वैराग्य की साधना में भी अपने को ढीला नहीं छोड़ सकता, अपनी तथाकथित 'आइडेंटिटी' यानी अहं से ही चिपटा रहता है, अज्ञात के सामने उसे समर्पित कर देने से इस कदर डरता है, ऐसा आदमी अपने राग-संबंधों में भी कैसे अपने ईगो से, अपनी आसक्तिजन्य अहं-भावना से ऊपर उठ सकता है? बल्कि, हो सकता है, प्रेम में आत्म-दान की असमर्थता और उससे उत्पन्न त्रास और घुटन को न सह पाने के कारण ही वह योग-वेदांत में शरण खोजता फिर रहा हो अर्थात् उसका वैराग्य भी उतना ही दुर्बल और कच्चा हो, जितना कि उसका राग। यह निष्कर्ष—क्या तुम कल्पना कर सकती हो दमयंती—कितना भयानक और त्रासद है? देखो तो सही, मुझे कितना बड़ा इलहाम हुआ है कि अपने सारे ज्ञान-ध्यान के बावजूद, बड़ी-बड़ी बातें करने के बावजूद मैं भी अपने राग-संबंधों में इसी ईगो, इसी अहं-भावना से ही परिचालित होता रहा हूं; असली आत्म-ज्ञान से कतराने-भागने की ही कोशिश करता रहा हूं। और अगर यह मेरे लिए सच है तो तुम्हारे लिए भी सच नहीं हो सकता? क्या तुम भी जाने-अनजाने इसी दुर्बलता का शिकार नहीं होती रही हो? सवाल है : यह सब जानते-बूझते भी हम आखिर कब तक इस दुश्चक्र में छटपटाते रहेंगे? हम अब अपनी उम्र की चढ़ाई पर नहीं, उतार पर हैं और उतरने में, तुम तो जानती ही हो, बड़ी सावधानी की जरूरत हुआ करती है। एक कदम भी गलत पड़ा नहीं कि हम लुढ़क कर सीधे गर्त में पहुंच सकते हैं। मुझे लगता है, दमयंती, मैं भी इस वक्त एक गर्त में पड़ा हुआ हूं और वहीं से तुम्हें आवाज दे रहा हूं। हालांकि, यह सच है, कि मैं जहां पहुंच चुका था, वहां से उतरते हुए नहीं, बल्कि अपनी समझ से, एक ज्यादा ऊंची चोटी पर चढ़ने की कोशिश करते हुए ही फिसला हूं। तुम मेरे साथ होती तो शायद नहीं फिसलता। तुम्हें पीछे छोड़कर, तुम्हारे बिना ही अपने अकेले दम पर यह चढ़ाई चढ़ने के चक्कर में ही शायद फिसल पड़ा हूं।

मैं पहेली नहीं बुझा रहा हूं। तुम्हें याद होगा मैंने तुमसे कभी एक किताब का जिक्र किया था। 'कुंडलिनी : ए पाथ

टु हायर कांशसनेस'। इधर मैंने इसे फिर से पढ़ा तो चकित रह गया। इतने विनम्र, इतने प्रामाणिक और आधुनिक वैज्ञानिक बुद्धि को भी समझ में आने वाले तर्कसंगत ढंग से किसी अन्य ने इस विषय पर इस तरह लिखा होगा—मैं नहीं समझता। मेरा अनुभव इसके एक-एक शब्द की सचाई की गवाही दे रहा है। हां तो, अकस्मात् कुंडलिनी जाग जाने पर इस लेखक को, गोपीकृष्ण नामक इस कश्मीरी पंडित को कैसे-कैसे बीहड़ और जोखमभरे अनुभवों से गुजरना पड़ा, इसका यथावत वर्णन उसने इस किताब में किया है। पहली बार मैंने इसे सिर्फ उलट-पुलट कर रख दिया था—ठग विद्या समझकर। अब जाकर मैंने इसे पढ़ा तो पता चला कि यह एक सत्यनिष्ठ खोजी और सच्चे साधक की आत्म-कथा है। जो मैं तुम्हें खास तौर पर बताने को तड़फड़ा रहा हूं, वह यह, कि इस लेखक ने पहली बार इस सचाई को रेखांकित किया है कि यदि उसकी पत्नी लगातार उसका साथ नहीं देती तो वह दुनिया को, जो-कुछ उसके साथ घटित हुआ, वह सब बताने को जीवित नहीं रह सकता था। उस लंबी अग्नि-परीक्षा से यदि वह अक्षत उबर सका और अपने अनुभवों को लिपिबद्ध भी कर सका—मानव-जाति के कल्याण के लिए—तो इसका श्रेय जितना उसके साहस और अध्यवसाय को जाता है, उससे कम उसकी पत्नी की अटूट सेवा, धीरज और बुद्धिमत्ता को नहीं। यह पुस्तक पढ़कर मुझे तो पक्का विश्वास हो चला है कि बिना जीवन-संगिनी के निरंतर सहयोग के इस छुरे की धार सरीखे पंथ पर चलना असंभव है। और क्यों न हो! जो जीवन-यात्रा में साथ हैं, उन्हें जीवन के रूपांतरण की साधना में भी साथ क्यों नहीं होना चाहिए? वहां भी वे अकेले कैसे सफल हो सकते हैं? जो राग में नहीं तप सका, वह वैराग्य में क्या तपेगा?

कहीं तुम यह न समझ लेना कि मैं प्राणपण से योग-साधना में डूबा हुआ हूं। काश, ऐसा होता! पर ऐसा बिलकुल नहीं है। मैं अभी भी वहीं हूं दमयंती, जहां पहले था। उससे मैं एक इंच भी आगे नहीं बढ़ा। कैसे बढ़ूंगा! अपनी असल कमजोरी, जो आदमी अपने-आप से भी कबूल नहीं कर पाता, वह मैंने तुम्हारे सामने कबूल कर ली है। पहली बार मेरी समझ में आ रहा है कि यह मार्ग कितना बीहड़ और जोखमों से पटा हुआ है। सवाल सिर्फ आंख मूंदकर आत्म-समर्पण कर देने का नहीं है—जैसा कि उत्तर-वृंदावन आश्रम के उस साधु ने तुम्हारे सामने ही मुझसे कहा था, तुम्हें याद होगा, कि 'जैसे हम रोज निःशंक नींद की गोद में अपने-आपको समर्पित कर देते हैं, उसी तरह ध्यान में भी अपनी चेतना का स्विच ऑफ हो जाने देना चाहिए। उसमें डरने की क्या बात है?' मेरा खयाल है, बात इतनी सीधी-सरल नहीं है। ठीक है, कि बिना किसी गुरु के, जिस तरह का ध्यान मैं करता आया हूं, वह कुंडलिनी योग वाली हठ साधना नहीं है, अपेक्षाकृत सुरक्षित मार्ग है। उत्तर-वृंदावन वाले वे साधु भी कुंडलिनी योग की बात नहीं कर रहे थे। मगर इस लेखक की आत्मकथा पढ़ के तो यही लगता है, कि मार्ग चाहे जो भी अपनाया जाए—उसमें कुंडलिनी तो देर-अबेर जागनी ही है; बिना उसके तो कोई भी योग फलदाई होता ही नहीं। यों मैं अब भी नित्य प्रातःकाल नियम से ध्यान में बैठता हूं। पर जो अटक मैंने तुम्हें बताई, वह तो ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। अक्सर ही वह मुझे साफ महसूस होती है, जिससे आगे बढ़ने में एकदम खतरा मालूम देता है। मेरा डर ही मुझे चौकन्ना कर देता है और मैं मानो एक ऊंचाई से फिसलकर फिर अपने रोजमर्रा के पठार में आ लुढ़कता हूं। गोपीकृष्ण की आत्मकथा से मुझे यह तो पता चल ही गया है कि वह खतरा किस तरह का होगा। उसके सारे रोंगटे खड़े कर देने वाले यथातथ्य विवरण उसमें लिपिबद्ध हैं। तो, समझ लो, मुझे एक और बहाना मिल गया है—अपनी साधना में सचमुच आगे बढ़ने का जोखम नहीं उठाने का। खामखाह क्यों अपने को खतरे में डाला जाए और वह भी तुम्हारी—अपनी सहधर्मिणी की—अनुपस्थिति में? मुझे कुछ हो गया तो यहां कौन देखने वाला है! हालांकि मैं आया यहां इसीलिए था कि मुझे अचानक ऐसा महसूस हुआ था कि यह बचपन का घर-परिवेश मेरे लिए एक कवच का काम करेगा। वह भ्रम अभी भी गया नहीं। पर, जैसा निर्विघ्न एकांत इस तरह की साधना के लिए जरूरी है, वैसा निर्विघ्न एकांत यहां कहां सुलभ है? तुम हंस रही होगी। हंसो—मैं सचमुच हास्यास्पद हूं। मैं एकांतवास की खोज में यहां आया था और पहले से भी दस गुना सामाजिकता अपने ऊपर ओढ़ ली है मैंने। सुबह मैं जहां होता हूं—यानी, मेरी चेतना जहां होती है, पूरे दिन मुझे उसका स्मरण तक नहीं होता। मानो मेरी चेतना ही मुझसे बदला लेने को पूरे समय इस रोजमर्रा के घटियापन में बुरी तरह लिथड़ी रहती है। और.... विडंबना यह, कि ऐसा होना मुझे अच्छा लगता है। अपनी ही चेतना की इस दुर्गति, इस अधोगति को मैं जैसे जानबूझकर बुलाता हूं और उसी में सुख पाता हूं। बस तो, थोड़ा लिखा, बहुत समझना। अभी इतना ही।

तुम्हारा ही,

नाथ

❖

कर्म और कर्मबंधन : एक विवेचन पृष्ठ 20 का शेष

ग्यारहवां अंग विपाक सूत्र है। उसमें शुभ-अशुभ कर्मों के विपाक की चर्चा है। सुख विपाक में पुण्यकर्मों का फल और दुख विपाक में पापकर्मों का फल प्रतिपादित है। आचार्य वीरसेन ने कर्मों के उदय और उदीरणा को विपाक कहा है।

आचार्य पूज्यपाद और अकलंकदेव ने लिखा—विशिष्ट या नाना प्रकार के पाक का नाम विपाक है।

आचार्य हरिभद्र, आचार्य अभयदेव ने वृत्ति में लिखा है—विपाक का अर्थ है—पुण्य-पाप रूप कर्म का फल मृगापुत्र आदि अध्ययन में कर्मों के विपाक का दिग्दर्शन है।

प्रकृतिबंध

प्रकृति अर्थात् स्वभाव, जैसे नीम का स्वभाव कड़वापन है, गुड़ का स्वाभाव मधुरता है। वैसे ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का अपना भिन्न स्वभाव है। स्वभाव, प्रकृति, शील, आकृति, गुण, धर्म, शक्ति, लक्षण आदि ये सब एकार्थवाची हैं।

आठ कर्मों के बंध के कारण इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणीय–6, दर्शनावरणीय–6, वेदनीय–22, मोहनीय–6, आयुष्य–16, नामकर्म–8, गोत्रकर्म–16, अन्तराय–5। कुल बंध के कारण 85 हैं। आठ कर्म के भोगने के मुख्य प्रकार 93 हैं। ज्ञानावरण–10, दर्शनावरण–9, वेदनीय–16, मोहनीय–5, आयु–4, नाम–28, गोत्र–16, अंतराय–5। इस प्रकार 93 प्रकार से जीव आठ कर्मों का भोग करता है। यह प्रकृतिबंध के अंतर्गत है। स्थिति, रस और प्रदेशबंध के समवाय प्रकृतिबंध हैं।

स्थितिबंध

आत्मा के साथ कर्मों के बंधे रहने की काल-मर्यादा स्थितिबंध है। स्थिति का अर्थ है—गति की निवृत्ति रूप स्वदेश से अपच्युति को स्थिति कहते हैं। जैन कर्म-ग्रंथों में ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की विभिन्न (उदय में रहने का कालमान) विवेचना है। सागरोपम आदि समय के प्रभेदों के स्वरूप-स्पष्टता के लिए अनुयोग द्वार आदि ग्रंथ द्दष्टव्य हैं। कौन-से कर्म का कितना अवस्थान काल है, अबाधाकाल की स्थिति क्या है—यह सब मननीय है।

अनुभागबंध

बंधे हुए कर्मों में फल देने की जो न्यूनाधिक शक्ति उत्पन्न होती है—वह अनुभागबंध है। विविध प्रकार के पाक, अर्थात् फल देने की शक्ति का नाम ही अनुभाग है। रागादि भावों के तारतम्य के अनुसार फलदान शक्ति में भी न्यूनाधिकता स्वाभाविक है। पूज्यपाद ने जठराग्नि का निदर्शन दिया है। जैसे, जठराग्नि के अनुसार आहार का विविध रूप में परिणमन होता है। वैसे ही तीव्र-मंद-मध्यम कषाय के अनुरूप कर्मों के रस तथा स्थिति में विशेषता आती है।

प्रदेशबंध

कार्मण वर्गणा के पुद्गल दलिकों का अमुकपरिमाण में बंधना प्रदेशबंध है। आकाश के छोटे-से-छोटे अविभागी अंश का नाम प्रदेश है। अखंड आकाश में प्रदेश-भेद की कल्पना करके अनंत प्रदेश कहा है। उसी प्रकार सभी द्रव्यों में पृथक्-पृथक् प्रदेशों की गणना का निर्देश किया है। उपचार से पुद्गल परमाणु भी प्रदेश नाम से अभिहित है। इस प्रकार पुद्गल कर्मों के प्रदेशों का जीव के प्रदेशों के साथ बंध होना प्रदेशबंध है।

उपरोक्त चार प्रकार के बंधनों में प्रकृतिबंध का संबंध मुख्यतया योग अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं से है, जबकि बंधन की तीव्रता (अनुभाग), समयावधि (स्थिति) का निश्चय कषायवृत्ति पर निर्भर है। योगों की चंचलता की न्यूनाधिकता के अनुपात में कर्म-दलिकों का आदान होगा और कषाय की तीव्रता-मंदता के अनुसार स्थिति निर्मित होती है।

प्रकृति, स्थिति आदि चारों बंधनों को समझने के लिए लड्डू का द्दष्टांत पर्याप्त होता है। जैसे—सौंठ, मैथी आदि वस्तुओं का मिश्रण कर लड्डू का निर्माण किया, वह वात आदि विकारों को दूर करता है। यह उसका स्वभाव (प्रकृति) है। लड्डू की भी अपनी मर्यादा है, अधिक समय रखने से विकृत हो जाता है। उसकी समयावधि स्थिति है। यह मीठा है या तिक्त है—यह उसका रस-अनुभाग कहलाता है। लड्डू कोई बड़ा होता है, कोई छोटा, किसी में अधिक मात्रा में मिश्रण होता है, किसी में कम मात्रा में। यही स्थिति कर्मों की है, इस प्रकार बंधनों को समझा जा सकता है। ❖

नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

ईश्वर जो हो

तुम भी क्या खूब ईश्वर हो
छीन ले सकते हो मुझ से
जब भी जो चाहो
किंतु चाह कर भी वह
लौटा नहीं सकते।

विवशता भी यह
ताकत है तुम्हारी!

ईश्वर जो हो!
वाह रे यह ईश्वरपन!

जितना तुम्हें सोचना

तुम्हारा होना जरूरी नहीं है
जितना तुम्हें सोचना।

हो कर भी क्या होता
सोचता नहीं यदि मैं
तुम्हें?
चाहे तुम ईश्वर भी होओ।

पेड़ भी

हर सू खुलता भी
खुद में डूबा भी—
पेड़ भी
जैसे कोई ईश्वर है!

आत्मपीड़ा

अंश हूं जितना
तुम्हारा मैं
उतना तो तुम्हारा भी
होगा ही मेरा दुख।

सुनो! इस आत्मपीड़ा में
तुम्हें क्या सुख?

तुम्हारे होने में

मैं नहीं रहूंगा
पर रहोगे ही तुम
फिर से अकेले।

मेरे होने में जो
सृष्टि है आनंद
तुम्हारे होने में
फिर दुख होगी वह।

फिर से पत्थर कर दो

हां, तुम्हारा कर्ज है मुझ पर
तो लो
छू लो मुझे
फिर से पत्थर कर दो।

मिलता ही रहा है सूद तो तुम को
उस यंत्रणा में
तुम्हारी कृपा, मेरी नियति ही जो
बन गई इस बीच।

न होने का होना

तुम हो
क्योंकि मैं जो हूं
लेकिन नहीं हूं मैं
क्योंकि तुम जो नहीं हो।

न होने का होना भी
कोई होना है?

मेरे बाद

तू आस्मान सही
तू भी उजड़ जाएगा—
किस की पर्वाज में
खेलेगी खला
मेरे बाद?

हर बार

हर बार
कमल-सी मुझी में से
फूटती कविता—
हर बार मुझी को
और अधिक पंकिल
और अधिक अंधियारा
करती हुई.....

शीलन

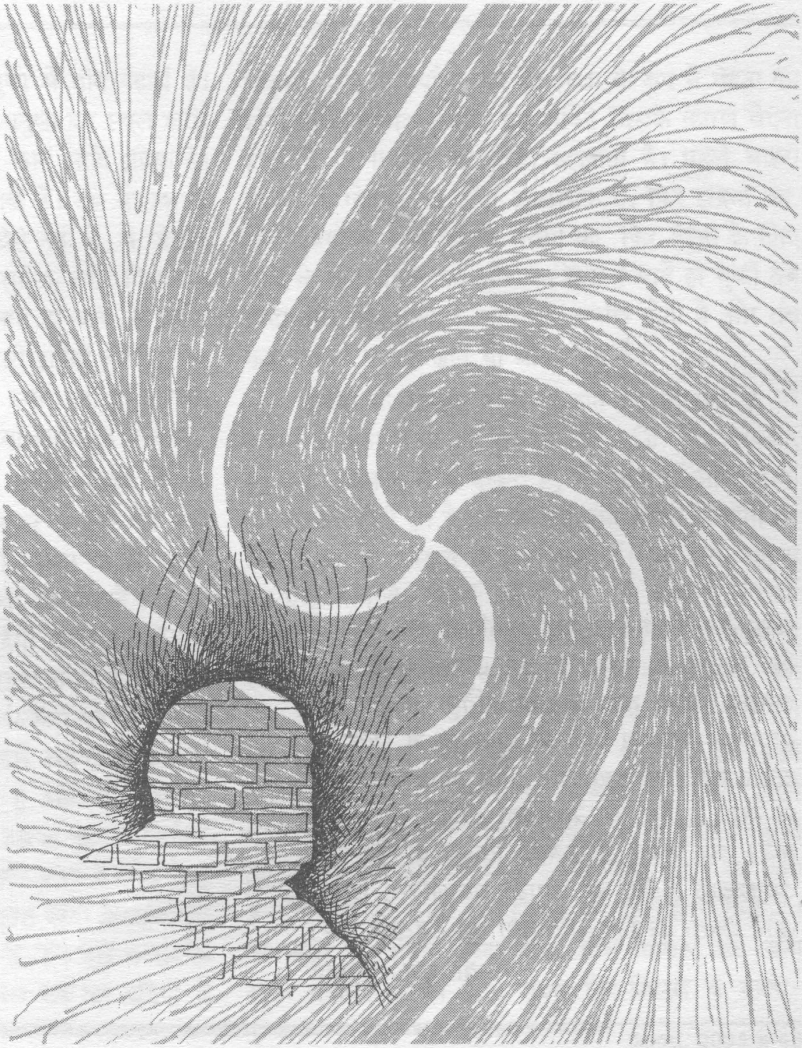

आधुनिक विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव में स्वतंत्रता की आकांक्षा है और उसका विवेक तथा उसकी नैतिक भावना उसे प्राणीगत विकास क्रम से विरासत में मिले हैं। यह उसके लिए प्राकृतिक और स्वाभाविक रूप से सही है कि वह स्वतंत्रता प्राप्ति का प्रयास करे। इस संघर्ष में उसकी विजय के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी तर्कशक्ति, विवेक और स्वतः उत्पन्न नैतिकता का उपयोग करे।

—वी. एम. तारकुंडे

अब तीन पदार्थ हुए। एक प्रकृति है जो अनंत तो है पर विकार वाली है। सारी प्रकृति अनादि और अनंत है, पर उसमें नित्य विकार होता रहता है। यह उसी नदी की भांति है जो समुद्र में सहस्त्रों वर्ष से बहती जा रही है। वह है तो वही नदी, पर उसमें क्षण-क्षण पर विकार होता रहता है, जल के अंश अपने स्थान को निरंतर बदलते रहते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर निर्विकार और नियंता है। और आत्मा भी ईश्वर की भांति नित्य और निर्विकार है, पर नियंता के अधीन है। एक स्वामी है, दूसरा दास है और तीसरी प्रकृति है

जीवात्मा, प्रकृति और परमात्मा

❑ स्वामी विवेकानंद ❑

वेदांत दर्शन के अनुसार मनुष्य में तीन पदार्थ हैं। बाहरी पदार्थ शरीर है, जो मनुष्य का स्थूल शरीर कहलाता है और जिसमें आंख, नाक, कान आदि इंद्रियां हैं। आंख इंद्रिय नहीं है, वह केवल गोलक है। उस गोलक के परे इंद्रिय है। इसी प्रकार कान श्रोत्रेंद्रिय नहीं हैं, वे गोलक मात्र हैं। उनके परे इंद्रिय है, जिसे आधुनिक शरीर विज्ञान में केंद्र कहते हैं। यदि आंख का केंद्र नष्ट हो जाए तो आंख देख नहीं सकती। यही दशा हमारी सारी इंद्रियों की है। फिर इंद्रियों को भी किसी पदार्थ का बोध स्वयं नहीं हो सकता, जब तक उनके साथ औरों का मेल या संयोग न हो।

यह मन है। कितनी ही बार आपके देखने में यह आया होगा कि आप किसी और विचार में लगे थे। घड़ी बजी और आपने सुना नहीं। यह क्यों? कान था ही, उसमें कंपन गए और वे मस्तिष्क तक पहुंचे, पर आपने फिर भी नहीं सुना। कारण यह था कि मन इंद्रियों से युक्त नहीं था। बाह्य पदार्थों के संस्कार को इंद्रियां ग्रहण करती हैं और जब मन उनसे संयुक्त रहता है, तब वह संस्कारों को ले लेता है और वह मानों वह रंग दे देता है जिसे अहंकार कहते हैं। मान लो कि मैं एक काम में लगा हूं और मेरे हाथ की उंगली में मच्छर काट लेता है। मुझे उसका काटना इसलिए नहीं जान पड़ता कि मेरा मन किसी और काम में लगा रहता है। फिर जब मेरा मन इंद्रियों से संयुक्त होता है, तब मुझे वेदना होती है। जब मुझे वेदना होती है, तब मुझे मच्छर के काटने का बोध होता है, अतः केवल मन का इंद्रियों से संयुक्त रहना ही पर्याप्त नहीं है। इच्छा के रूप में वेदना का होना ही आवश्यक ठहरा। वह शक्ति जिसके कारण वेदना होती है, ज्ञानशक्ति या बुद्धि कहलाती है। पहले बाहरी इंद्रियों के गोलक का होना आवश्यक हैं, फिर इंद्रियों का, फिर इंद्रियों के साथ मन के संयोग का, फिर वेदना के लिए बुद्धि के प्रति संयोग का और जब ये सब बातें हो चुकीं तब द्रष्टा और फिर दृश्य के भाव की उत्पत्ति होती है और तब कहीं जाकर प्रत्यक्ष ज्ञान या बोध होता है।

इंद्रियों के गोलक शरीर में होते हैं। गोलकों के परे इंद्रियां हैं, फिर उनसे परे मन है। फिर बुद्धि, फिर अहंकार है। इसी अहंकार से मैं देखता हूं, मैं सुनता हूं आदि भावों की उत्पत्ति होती है। ये सब क्रियाएं एक शक्ति से होती हैं। इस शक्ति को संस्कृत में प्राण कहते हैं। यह शरीर मनुष्य का एक भाग है, जिसमें इंद्रियों का एक भाग है, जिसमें इंद्रियों के गोलक हैं। इसे स्थूल शरीर कहते हैं। इसके भीतर इंद्रियां, मन, बुद्धि और अहंकार हैं। इस सबके साथ प्राण मिलकर एक संयोग बनता है जिसे सूक्ष्म शरीर कहते हैं। यह अत्यंत सूक्ष्म तत्त्वों या मूलों से बने होते हैं—इतने सूक्ष्म कि शरीर में कितना ही आघात पहुंचे, पर इससे उनको कोई क्षति नहीं पहुंचती। वे शरीर के विकार-प्राप्त होने पर भी बने रहते हैं। स्थूल शरीर स्थूल पदार्थों का होता हैं और सदा यह बनता और विकार को प्राप्त होता रहता है। पर भीतर की इंद्रियों, मन, बुद्धि और अहंकार की रचना सूक्ष्म पदार्थों से है। इतने सूक्ष्म कि जिससे वे कल्प-

कल्पांतर तक बनी रहती हैं। वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि कोई उनको रोक नहीं सकता, वे हरएक अवरोध को पार कर सकते हैं। जैसे स्थूल शरीर जड़ है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर भी जड़ है, वह सूक्ष्म पदार्थों से बना भले ही हो। यद्यपि उसके एक भाग को मन, दूसरे को बुद्धि और तीसरे को अहंकार कहते हैं, पर यह हम जान सकते हैं कि उनमें कोई ज्ञाता नहीं हो सकता। उनमें कोई द्रष्टा या साक्षी नहीं हो सकता। मन, बुद्धि या अहंकार की क्रियाएं किसी दूसरे के लिए हैं। ये सब सूक्ष्म भूतों से भले ही बने हों, पर वे स्वयंप्रकाश नहीं हैं। उनमें स्वतःप्रकाश नहीं है। यह मेज की अभिव्यक्ति जो हो रही है, किसी भौतिक पदार्थ के कारण नहीं है। अतः उनकी आड़ में कोई अवश्य है जो उनका द्रष्टा, भोक्ता और अभिव्यक्त करने वाला है। उसे आत्मा कहते हैं। वही सबका सच्चा द्रष्टा है।

बाह्य इंद्रिय गोलक और इंद्रियां संस्कार को ग्रहण करती हैं और उनको मन के पास ले जाती हैं। मन बुद्धि को देता है और बुद्धि पर उनका प्रतिबिंब दर्पणवत् पड़ता है, जिसकी दूसरी पीठ आत्मा है। वह उन्हें देखता है और अपनी आज्ञा देता है। वह इन कारणों का अधिष्ठाता है, गृहपति और शरीर का राजा है। अहंकार, बुद्धि, मन, इंद्रियां, गोलक और शरीर—सब उसके शासन को मानते हैं। वही इन सबको व्यक्त कर रहा है। वही मनुष्य की आत्मा है। हम देखते हैं कि जो बात विश्व के एक अणु या लघु अंश में है, वही सारे विश्व में भी होगी। यदि विश्व का नियम साम्य है तो विश्व के एक-एक अंश की रचना उसी नियम पर हुई है, जिससे समस्त विश्व की है। अतः हम सहज में विचार कर सकते हैं कि इस स्थूल भौतिक पिंड के परे, हम जिसे अपना विश्व कहते हैं, कोई सूक्ष्म भौतिक विश्व भी अवश्य है, जिसे हम मन कहते हैं, और उसके परे आत्मा है जिसके कारण सारे ज्ञान होते हैं और जो इस विश्व का शासक और अधिपति है।

जो आत्मा सब मनों के परे है, उसे प्रत्यगात्मा कहते हैं और वह आत्मा, जो इस विश्व के परे उसका शासक और अधिपति है, ईश्वर कहलाता है।

दूसरी विचारणीय बात यह है कि ये सब कहां से उत्पन्न होते हैं? उत्तर यह है कि उत्पन्न होने से क्या अभिप्राय है। यदि इसका यह आशय है कि शून्य से किसी पदार्थ की उत्पत्ति हो सकती है, तब तो यह असंभव है। यह सब सृष्टि और अभिव्यक्तियां जो देख पड़ती हैं, शून्य से कभी उत्पन्न नहीं हुई हैं। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। पर कार्य है क्या? कारण ही का तो रूपांतरण मात्र है। एक शीशा है। मान लीजिए कि हम इसकी बुकनी कर डालें और रासायनिक परिक्रिया से इसे नष्ट कर दें तो क्या आप समझते हैं कि यह शून्य हो जायेगा? कदापि नहीं? रूप भले ही नष्ट हो जाए, पर वह अंश जिससे वह बना है, रह जाएगा। वे इंद्रियातीत दशा को क्यों न प्राप्त हो जाएं, पर वे रहते अवश्य और नितांत संभव है कि उन अंशों से फिर शीशा बन सके। जैसे यह एक दशा में सत्य है, वैसे ही यह सब दशाओं में सत्य हो सकता है।

असद् से सद् की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। न सद् कभी असद् हो सकता है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल हो सकता है। समुद्र से भाप उठकर मेह की बूंद बनती है, वह पर्वत पर जाती है, फिर वह पानी हो जाती है और सैकेड़ों मील बहकर समुद्र में पहुंचती है। बीज से वृक्ष होता है। वृक्ष नष्ट हो जाता है और अंत को फिर बीज ही रह जाता है। इसी प्रकार चक्कर चलता रहता है। पक्षी को देखिए। वह अंडे से निकलता है, सुंदर पक्षी हो जाता है। जीवन-भर जीता है, फिर मर जाता है और अंडे बीज रूप में रह जाते हैं। यही अवस्था पशुओं और मनुष्य की भी है। सब किसी बीज से, किसी पूर्वरूप से या सूक्ष्म दशा से उत्पन्न होते हैं, स्थूल से स्थूल होते जाते हैं और अंत को सूक्ष्म होते-होते अपने कारण में लय हो जाते हैं। सारा विश्व इसी प्रकार चलता रहता है। एक समय आता है जब यह समस्त विश्व सूक्ष्म होते-होते अंत को तिरोभूत हो जाता है और अतिसूक्ष्म अवस्था को धारण कर लेता है।

हमें आधुनिक विज्ञान और ज्योतिषशास्त्र के द्वारा जान पड़ता है कि यह पृथ्वी ठंडी होती जाती है। कालांतर में यह बहुत ठंडी हो जाएगी और तब यह छिन्न-भिन्न हो जाएगी और इतनी सूक्ष्म हो जाएगी कि यह आकाश के रूप में हो जाएगी। पर फिर भी परमाणु रह जाएंगे और उनसे पुनः दूसरी पृथ्वी उत्पन्न होगी। फिर वह लुप्त हो जाएगी और दूसरी बनेगी। इस प्रकार पहले यह विश्व अपने कारण में लय हो जाएगा, फिर इसकी सामग्री इकट्ठी हो जाएगी और दूसरा रूप धारण करेगी। वह लहर की भांति उठती-बैठती रहेगी। कारण में लय होने और फिर निकलकर रूप धारण करने की यह क्रिया चलती रहेगी। इसी को संस्कृत में संकोच और विकास कहते हैं। सारे विश्व में संकोच और विकास होता रहता है। आधुनिक विज्ञान की बोलचाल में

उनका आरोह और अवरोह होता रहता है। हमने आरोह के संबंध में सुना होगा कि रूपों का विकास कैसे तुच्छ रूपों में धीरे-धीरे उन्नति होते-होते होता है। हम जानते हैं कि विश्व में शक्ति की मात्रा सदा एक ही रहती है और द्रव्य का नाश नहीं होता। हम किसी प्रकार के द्रव्य का एक अणु भी कम नहीं कर सकते। एक छटांक बल को भी निकाल नहीं सकते हैं, न मिला ही सकते हैं। उसकी मात्रा सदा समान रहती है। केवल संकोच और विकास से अभिव्यक्ति में भेद पड़ता रहता है। अतः यह कल्प पूर्वकल्प के संकोच का विकास है और इस विकास का फिर संकोच होगा। सब सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते जाएंगे और फिर दूसरे कल्प का आरंभ होगा। इस प्रकार सारा विश्व अपनी कक्षा में जा रहा है। अतः हम इस दृष्टि से देखते हैं कि असद् से सद् की उत्पत्ति होती है, कोई सृष्टि होती ही नहीं।

इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि यह अभिव्यक्ति है और ईश्वर उसका अभिव्यंजक है। विश्व मानो उसके श्वास-प्रश्वास की भांति उससे निकलता और उसमें पैठता रहता है। वेदों में एक उपमा के रूप में इसका क्या ही अच्छा वर्णन किया गया है। 'महाभूत इस विश्व को श्वास की तरह खींचता और फेंकता रहता है।' जैसे हम छोटे-छोटे कणों या अणुओं को श्वास से बाहर निकालते और फिर भीतर ले जाते रहते हैं। यह तो बहुत ही ठीक है, पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या यह पहला कल्प है? उत्तर यह है कि पहले कल्प का अर्थ क्या है। कल्प तो कुछ है ही नहीं। यदि हम काल का आदि मानें, तब तो वह काल रहा ही नहीं। तनिक काल के आरंभ का तो ध्यान कीजिए, फिर उसके आगे भी काल को मानना पड़ेगा। तनिक देश के आरंभ का ध्यान कीजिए, उससे परे भी देश दिखाई पड़ेगा।

देश और काल अनंत हैं, अतः उनका आदि और अंत नहीं है। यह विचार इस विचार से कहीं अच्छा है कि ईश्वर ने सृष्टि को पांच मिनट में रच डाला और फिर वह सोने लगा और अब तक सोता ही है। इसके अतिरिक्त इससे ईश्वर नित्यद्रष्टा जान पड़ता है। लहर चढ़ती है, उतरती रहती है और वह उस नित्यक्रिया का प्रेरक है। जैसे विश्व अनादि और अनंत है, वैसे ही ईश्वर भी है। हमारी समझ में ऐसा होना आवश्यक है, क्योंकि यदि हम कहते हैं कि कभी सृष्टि नहीं थी, चाहे वह सूक्ष्म रूप में हो या वह स्थूल रूप में, तो इससे यह मतलब निकलता है कि तब ईश्वर नहीं था, क्योंकि ईश्वर को तो हम विश्व का साक्षी मानते हैं। जब विश्व नहीं था तब वह भी नहीं था। एक बात दूसरी से निकलती है। कारण के भाव से कार्य की सिद्धि होती है। यदि कार्य नहीं तो कारण कहां। अतः यह निगमन निकलता है कि यदि विश्व नित्य है तो ईश्वर भी नित्य है।

आत्म भी नित्य अवश्य है। क्यों? हम पहली बात यह देखते हैं कि आत्मा भौतिक नहीं है। न यह स्थूल शरीर है और न सूक्ष्म शरीर है, जिसे हम मन और बुद्धि कहते हैं। न यह भौतिक शरीर है और न यह वह है, जिसे ईसाई लोग आध्यात्मिक शरीर कहते हैं। स्थूल शरीर और आध्यात्मिक शरीर—दोनों विकारवान् हैं। स्थूल शरीर में तो क्षण-प्रति-क्षण विकार होता रहता है और आध्यात्मिक शरीर बहुत दिन तक बना रहता है और जब वह छूट जाता है तब आत्मा मुक्त हो जाता है। जब मनुष्य मुक्त हो जाता है, तब आध्यात्मिक शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है। स्थूल शरीर जब-जब मनुष्य मरता है तब-तब छिन्न-भिन्न होता रहता है। आत्मा किसी और पदार्थ से नहीं बना है, अतः वह अविनाशी है। नाश से हमारा क्या प्रयोजन है? नाश कहते हैं उन पदार्थों के छिन्न-भिन्न हो जाने को जिनसे वह वस्तु बनी हो। यदि शीशा टूट जाए और उसके पदार्थ छिन्न-भिन्न हो जाएं तो शीशे का नाश हो जाएगा। अंशों के इसी छिन्न-भिन्न होने को नाश कहते हैं। इससे यह मतलब निकलता है कि जो अंशों या टुकड़ों से नहीं बना है, उसका नाश नहीं है। आत्मा किसी पदार्थ से नहीं बना है। यह अविभाज्य एकता है। इसी युक्ति से यह अनादि भी अवश्य है। अतः आत्मा अनादि और अनंत है।

अब तीन पदार्थ हुए। एक प्रकृति है जो अनंत तो है पर विकार वाली है। सारी प्रकृति अनादि और अनंत है, पर उसमें नित्य विकार होता रहता है। यह उसी नदी की भांति है जो समुद्र में सहस्रों वर्ष से बहती जा रही है। वह है तो वही नदी, पर उसमें क्षण-क्षण पर विकार होता रहता है, जल के अंश अपने स्थान को निरंतर बदलते रहते हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर निर्विकार और नियंता है। और आत्मा भी ईश्वर की भांति नित्य और निर्विकार है, पर नियंता के अधीन है। एक स्वामी है, दूसरा दास है और तीसरी प्रकृति है।

ईश्वर विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण है। कारण का कार्य के उत्पन्न करने के लिए रहना आवश्यक है। यही नहीं, कारण ही कार्य हो जाता है। शीशा

कुछ पदार्थों और कुछ शक्तियों से, जिन्हें बनाने वाला काम में लाता है, बनता है। शीशे में शक्ति और द्रव्य दोनों हैं। जो शक्ति लगी है वह संसक्ति के रूप में है। यदि संसक्ति की शक्ति न रहे तो शीशे के अंश अलग-अलग हो जाएं। द्रव्य भी शीशे में है। केवल रूप बदल गया है। कारण ही कार्य हो गया है। जो आपको कार्य दिखाई पड़ता है, वह आपको सदा कारण में देख पड़ेगा। कारण ही कार्य रूप में व्यक्त होता है। अब यह परिणाम निकलता है कि ईश्वर यदि विश्व का कारण है और विश्व कार्य है तो ईश्वर ही विश्व बन गया है। यदि आत्मा कार्य और ईश्वर कारण है तो ईश्वर ही आत्मा बन गया है। प्रत्येक आत्मा इसीलिए ईश्वर का एक अंश है। जैसे अग्नि से अनेक चिनगारियां निकलती हैं, वैसे ही अनंत शाश्वत विश्वात्मा से यह आत्मा निकलते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि नित्य ईश्वर और नित्य प्रकृति है। और अनंत संख्यक आत्माएं भी हैं। यह धर्म की प्रथम श्रेणी है। इसे द्वैतवाद कहते हैं जिसमें मनुष्य अपने को ईश्वर से निरंतर पृथक् देखता है—जिसमें ईश्वर पृथक् है, आत्मा पृथक् है और प्रकृति पृथक् है। यह द्वैतवाद है जिससे द्रष्टा और दृश्य सर्वत्र एक-दूसरे से विरुद्ध और अलग-अलग हैं। उसमें द्रष्टा और दृश्य के भेद से द्वैत दिखाई पड़ता है। जब मनुष्य ईश्वर को देखता है, तब वह उसे दृश्यवत् दिखाई पड़ता है और वह अपने को द्रष्टा जानता है। वे नितांत पृथक् हैं। यह मनुष्य और ईश्वर का द्वैतभाव है। धर्म का प्रायः यही पहला रूप है।

मनुष्य यह जानने लगता है कि ईश्वर विश्व का कारण है और विश्व कार्य है। ईश्वर ही विश्व और आत्मा हो गया है, पर वह एक अंश मात्र है और ईश्वर पूर्ण है। हम अति तुच्छ हैं, केवल अग्नि की चिनगारी के समान हैं और सारा विश्व ईश्वर की अभिव्यक्ति मात्र है। यह दूसरी श्रेणी है। संस्कृत में इसी को विशिष्टाद्वैत कहते हैं। जैसे यह शरीर है और शरीर आत्मा को आवृत किए हुए है और आत्मा शरीर में व्याप्त है, अतः यह सारा विश्व और आत्मा मानो ईश्वर का शरीर है। जब स्थूल अभिव्यक्ति होती है, तब भी विश्व ईश्वर का शरीर ही रहता है। जैसे मनुष्य की आत्मा मनुष्य के शरीर और मन की आत्मा है, वैसे ही ईश्वर हमारी आत्माओं की भी आत्मा है। ये बातें सभी धर्मों में सुनी होंगी कि ईश्वर हमारी आत्माओं की भी आत्मा है। इस वाक्य का यही अर्थ है। वही उनमें रहता है, उनको प्रेरित करता है और उनका शासन करता है। पहली श्रेणी द्वैतवाद में हममें से प्रत्येक पृथक्-पृथक् है और ईश्वर तथा प्रकृति से सदा के लिए अलग है। दूसरे में हम अलग तो हैं, पर ईश्वर से पृथक् नहीं हैं। हम सब छोटे-छोटे अणु के समान हैं जो समष्टि में रहते हैं और वह समष्टि ईश्वर है। हम पृथक् तो हैं, पर ईश्वर के साथ एकीभूत हैं। हम सब उसमें हैं। हम सब उसी के अंश हैं। अतः हम एक ही हैं। फिर भी मनुष्य-मनुष्य में, मनुष्य और ईश्वर में विभिन्नता और पार्थक्य है भी, पर नहीं भी है।

फिर एक और सूक्ष्म प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या अनंत के विभाग हो सकते हैं? अनंत के भाग का अर्थ क्या है? यदि हम तर्क करें तो यह असंभव प्रतीत होगा। अनंत के भाग हो नहीं सकते, वह सदा अनंत ही रहेगा। यदि उसका भाग हो सकेगा तो प्रत्येक भाग भी अनंत ही होगा। दो अनंत हो नहीं सकते। मान लें—दो हों भी, एक तो दूसरे को ससीम करेंगे और दोनों ससीम हो जाएंगे। अनंतता एक ही रहेगी और वह अविभक्त रहेगी। इस प्रकार यह परिणाम निकलता है कि अनंतता एक ही है, अनेक नहीं और एक अनंत आत्मा की छाया करोड़ों दर्पणों में पड़ रही है और भिन्न-भिन्न आत्माओं के रूप में भासमान हो रही है। वही अनंत आत्मा इस विश्व का आधारभूत है जिसे ईश्वर कहते हैं। वही अनंत आत्मा मनुष्य के मन का आधारभूत है और उसकी ओट में वह है जिसे मनुष्य की आत्मा कहते हैं। ❖

हम क्या भूल ही गये हैं कि सीमाहीन अकूल समुद्र व गर्वोन्नत हिमालय संसार-भर की प्रतियोगिताओं से हमारी रक्षा नहीं कर सकेगा। जिस प्रकार मां-धरती पाप का बोझ सहने में असमर्थ है, उसी प्रकार मां-प्रकृति भी असमर्थ का भार वहन करने के लिए विमुख है। देह की मृत्यु ही हमारे लिए सर्वाधिक भयावह नहीं है। क्षण-भंगुर शरीर मिट्टी में मिल जाने पर भी जातीय आशा व चिंतन ध्वस्त नहीं होता। मानसिक-शक्ति का ध्वंस ही प्रकृत मृत्यु है—पूर्णतया आशारहित और चिरंतन।

—सर जगदीशचंद्र बसु

प्रेक्षाध्यान के प्रयोग करते समय जिस ध्वनि का प्रयोग करते हैं उसमें न कोई धर्म है और न कोई संप्रदाय की बात। यह ध्वनि महाप्राण ध्वनि है। यह ध्वनि करते समय दोनों होंठ बंद, दांत खुले और नाक से भंवरे की तरह गुंजन करना होता है। मन को मस्तिष्क पर केंद्रित रख मन का नियोजन करना होता है।

संकल्प व्यक्ति को महान बनाता है। ध्यान में संकल्प का विशेष महत्त्व है। हमें ध्यान के द्वारा कषाय का अल्पीकरण करना है, कषाय का उपशमन करना है और यह संकल्प के द्वारा ही होगा

ध्यान और ध्वनि : ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण

□ मुनि गिरीशकुमार □

प्रेक्षाध्यान ध्यान की सबसे सरल विधि है, जिसे हर व्यक्ति, यहां तक कि छोटा बच्चा भी कर सकता है। प्रेक्षाध्यान आधुनिक मनुष्य-समाज के लिए एक शक्तिशाली विधि भी है, जिसमें अनेक प्रयोग हैं। अलग-अलग समस्याओं के समाधान के लिए अलग-अलग प्रयोग हैं। अनेक प्रयोगों में से एक प्रयोग की यहां चर्चा की जा रही है। ध्यान में कितना आनंद है और ध्यान करने से कितनी मानसिक शांति प्राप्त होती है, यह बात ध्यान करने से ही समझी जा सकती है। ध्यान का लक्ष्य होना चाहिए—आध्यात्मिक विकास। लक्ष्य होना चाहिए—चित्त की निर्मलता, चित्त की शुद्धि और जब ये होंगे तो न तो तनाव रहेगा और न ही बीमारी। हमें ध्यान का प्रयोग इसलिए करना चाहिए कि अध्यात्म का विकास हो, हमारे राग-द्वेष कम हों। यही मोक्ष की साधना भी है।

ध्वनि भी अपने-आपमें एक महत्त्वपूर्ण क्रिया है। ध्वनि व्यक्ति को प्रभावित करती है। ध्वनि वर्तमान में सुख देने वाली होती है और भविष्य में सिद्धशिला तक पहुंचा सकती है, मोक्ष तक पहुंचा सकती है। ध्वनि से ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण होता है, इसी से मस्तिष्क में प्रकाश होता है।

ध्वनि के अनेक प्रकार हैं। 'ॐ' की ध्वनि, 'अर्हम्' की ध्वनि और 'ह्रीं' की ध्वनि मुख्य हैं। प्रेक्षाध्यान के प्रयोग करते समय जिस ध्वनि का प्रयोग करते हैं उसमें न कोई धर्म है और न कोई संप्रदाय की बात। यह ध्वनि महाप्राण ध्वनि है। यह ध्वनि करते समय दोनों होंठ बंद, दांत खुले और नाक से भंवरे की तरह गुंजन करना होता है। मन को मस्तिष्क पर केंद्रित रख मन का नियोजन करना होता है। ध्वनि के अंत में मूलबंध का प्रयोग अवश्य किया जाए। इससे शक्ति को धक्का लगेगा, जिससे शक्ति क्रमशः ऊपर जाएगी। प्रतिदिन कम-से-कम 104 बार ध्वनि के प्रयोग से स्वस्थता का अनुभव होगा। इसके बाद संकल्प का उच्चारण करवाया जाता है। संकल्प व्यक्ति को महान बनाता है। ध्यान में संकल्प का विशेष महत्त्व है। हमें ध्यान के द्वारा कषाय का अल्पीकरण करना है, कषाय का उपशमन करना है और यह संकल्प के द्वारा ही होगा।

अब ध्यान के प्रथम चरण में प्रवेश करना है। यह कायोत्सर्ग चरण है। कायोत्सर्ग के द्वारा तीन काम करने हैं—शरीर की स्थिरता, शिथिलीकरण और जागरूकता। कायोत्सर्ग को विज्ञान की भाषा में भेद-विज्ञान कहते हैं। भेद-विज्ञान यानी आत्मा अलग है, शरीर अलग है। कायोत्सर्ग में हमें यह अभ्यास करना है—आत्मा अलग है, शरीर अलग है।

कायोत्सर्ग में हमें चित्त की यात्रा करनी है। कायोत्सर्ग से शरीर के ममत्व का छोड़ना है। कायोत्सर्ग से तनाव दूर होता है। हृदय की धड़कन ठीक करनी, रक्तचाप संतुलित करना है। एक प्रश्न आता है कि क्या सुझाव से शरीर स्थिर हो जाएगा? हां, हो जाएगा। उदाहरणतः जैसे मां अपने बेटे से कहती है—सोजा-सोजा और वह सो जाता है। वैसे ही कायोत्सर्ग में भी संभव है।

अब ध्यान के द्वितीय चरण में प्रवेश करना है। यह चरण है—अंतर्यात्रा। हमारे शरीर में अनंत शक्ति है। फेफड़े और रीढ़ की हड्डी का अंतिम छोर शक्ति-केंद्र हैं। हमारे दोनों फेफड़ों में शक्ति लेने की क्षमता है। हम इस भाग-दौड़ की जिंदगी में पर्याप्त रूप में ग्रहण नहीं कर पाते हैं। शक्ति-केंद्र में पुरुषार्थ है, वीर्य है। इसे कैसे जागृत करें, इसका नियोजन कैसे करें? हमें सुषुम्ना नाड़ी के रास्ते से पुरुषार्थ को, वीर्य को ज्ञान-केंद्र तक पहुंचाना है, जहां मस्तिष्क का संपूर्ण भाग है। श्वास निकालते हुए नीचे से ऊपर जाना है, साथ में मूल-बंध का प्रयोग करना है और मन को साथ में रखना है। यह प्रयोग पांच मिनट से ज्यादा नहीं हो, क्योंकि अब तक वह केंद्र सोया पड़ा था। इस प्रयोग का लाभ विवेक जागृत करने, वासना का पतन और ऊर्जा का ऊर्ध्वारोहण है। ज्ञान, दर्शन और ज्योति-केंद्र जागृत होते हैं। सुषुम्ना का मार्ग समता का मार्ग है। समता में राग-द्वेष रहित रहने का संकल्प प्रकट होता है। इसके बाद श्वास-प्रेक्षा का प्रयोग कराया जाता है। प्रेक्षाध्यान में केवल श्वास को देखने का सुझाव दिया जाता है। यहां प्रश्न होता है—श्वास नाक से क्यों लें? मुंह से क्यों नहीं लें? नाक से इसलिए श्वास लें कि यह गंध, स्पर्श और वातावरण को जानता है। हमें खुशबू का आभास नाक से होता है, मुख से नहीं। बाहर हवा ठंडी है या गरम—यह नाक बताता है, मुंह नहीं। नाक से श्वास इसलिए लेनी चाहिए कि इसमें छोटे-छोटे बाल होते हैं और वे रज-कणों को रोकते हैं। श्लेष्म भी यहां से आते हैं। नाक ठंडा, गरम को संतुलित करता है। इसमें दोनों स्वरों का क्रम इस प्रकार है : दायां भाग—सूर्यस्वर—गरम। बायां भाग—चंद्रस्वर—ठंडा।

नाक का दायां भाग भोजन के समय व उसके पश्चात् पाचन में सहयोगी है। यह पुरुषार्थ जगाता है और उदासी भगाता है, प्रेरणा देता है, नियंत्रण करता है। रात्रि में भी लाभ देता है। उत्तेजना, चंचलता, आवेश और ऊर्जा को बढ़ाता है।

बायां भाग दिन में विशेष लाभदायक है। व्यवहार को शीतल बनाता है, शांति प्रदान करता है, शरीर को शांति का संदेश देता है। जब दोनों नाक (स्वर) साथ चलें, तो उसको कहते है सुषुम्ना। यह चलता है तो मानना चाहिए—यह समता का मार्ग है।

अब प्रश्न है कि जब श्वास लें तो पेट खुले या सिकुड़े? स्वयं श्वास लें, तब पेट फूलना चाहिए और तब छाती सिकुड़े। हम जब श्वास लेते हैं तब दबाव पड़ता है, जिससे पसलियां-हसलियां दबने से पेट फूलता है। सही श्वास कैसा? छोटा बच्चा श्वास लेता है, वह सही श्वास है। प्रश्न आता है कि उलटा श्वास कब से प्रारंभ होता है? उलटा श्वास शुरू होने का प्रथम पड़ाव है—स्कूल। शिक्षक के डर से उलटा श्वास लेना शुरू होता है। जिसके कारण फेफड़ों में दर्द, जोड़ों में दर्द, चर्मरोग, कार्यक्षमता में कमी आदि नजर आने लगते हैं। स्वभाव में चिड़-चिड़ापन, निराशा, उदासी, नकारात्मक-निषेधात्मक भाव, कषाय-प्रबल वासनाएं हर समय जागृत रहती हैं। अतः आवश्यक है—दीर्घश्वास। दीर्घश्वास से श्वास की मात्रा तीन गुना बढ़ती है। इससे मन एकाग्र, चित्त निर्मल, कार्य करने की क्षमता में वृद्धि होती है, जो पहले 20 प्रतिशत थी तो 80 प्रतिशत तक पहुंच जाती है। कोशिकाओं को पूरा 'ऑक्सीजन' मिलते ही कषाय की मात्रा कम होने लगती है। खून साफ होता है। टी. बी., अस्थमा, खांसी, श्वास व हृदय रोग, 'डायबीटिज', घुटने का दर्द आदि में सुधार नजर आने लगता है। चेहरा हर समय गुलाब की भांति चमकता रहता है। श्वास-प्रेक्षा में मन को साथ रखें। श्वास और मन दोनों साथ-साथ चलें। इस प्रयोग को समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा यानी श्वास-संयम भी कहते हैं। इसे कुंभक भी कहते हैं। ध्यान की विशेष स्थिति के लिए यह प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

यह भी देखें कि एक मिनट में कितनी श्वास लेते हैं? सामान्य व्यक्ति एक मिनट में 15 से 16, चलते समय 18 से 20, बात करते समय 20 से 22, नींद में 25 से 30, आवेश, भय या तनाव की स्थिति में 30 से 32, लड़ाई-झगड़े में 45 से 50 श्वास लेता है। एक घंटे में सामान्य श्वास की संख्या 996 और 24 घंटे में 23000।

ज्योति-केंद्र प्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान में माना गया है कि ज्योति-केंद्र नीचे के सारे केंद्रों और सारी ग्रंथियों का संचालन करता है। वासना पर नियंत्रण इसके वश में है। वासना पैदा करना भी इसका ही काम है। यह केंद्र शरीर रूपी 'फैक्ट्री' को संभालता है, आंखों को ठंडा करता है। इसलिए इस केंद्र पर ध्यान करते हुए सफेद रंग का ध्यान करना होता है। यह गरमी को शांति प्रदान करता है। ज्योति-केंद्र प्रेक्षा सरल प्रयोग विधि है। कोई भी व्यक्ति इसे कर सकता है। इस प्रयोग में कोई भी खतरा नहीं है। जिस आसन में करना हो, कर सकते हैं। हर व्यक्ति को यह प्रयोग करना चाहिए। ❖

राजकुमार ने डुगडुगीवाले की बात ध्यान से सुनी। वह मन में सोचने लगा, मैंने विद्या सीखने में अनगिनत रुपया पानी का तरह बहाया है। आज इस अक्ल की दुकान की भी परख करनी चाहिए। देखें, इसका माल चोखा निकलता है या खोटा! इस समय मेरी जेब में तीन लाख के जवाहर हैं, यदि इनको अक्ल खरीदने में खर्च न करूं तो ये किस काम में आएंगे? ऐसा सोच उसने डुगडुगीवाले से कहा, 'मैं आपकी दुकान से कुछ अक्ल खरीदना चाहता हूं। मुझे भीतर पहुंचा दो'

बालकथा

बात लाख टके की

❑ शिवसहाय चतुर्वेदी ❑

एक था राजा। उसके एक लड़का था। वह बड़ा विद्या-प्रेमी था। वह गुणी लोगों को हजारों रुपए देकर गुण सीखा करता था। राजकुमार के इस विद्या-प्रेम की चर्चा दूर-दूर तक फैल गई। अनेक गुणी पंडित उसके पास आने लगे। राजकुमार सबको हजारों रुपए देकर उनसे गुण सीखने लगा। कुछ समय में वह बहुत विद्वान तथा अनेक कलाओं का ज्ञाता हो गया।

एक दिन मंत्री ने राजा के पास शिकायत की कि राजकुमार ब्राह्मण-पंडितों को रुपए दे-देकर खजाना खाली किए देता है। राजा ने राजकुमार के खर्च का हिसाब मांगा। लाखों रुपए महीने का खर्च देखकर राजा ने उसे देश-निकाले का हुक्म दे दिया। राजा ने सोचा—यदि राजकुमार और कुछ दिन यहां रहा तो खजाना खाली कर देगा। पुत्र के देश-निकाले का समाचार सुनकर रानी को बड़ा दुख हुआ। वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। माता की ममता ऐसी ही होती है। उसने कलेवा के बहाने तीन लड्डूओं में तीन लाख कीमत के जवाहर भर दिए। उसने सोचा, यह धन परदेश में पुत्र के काम आएगा। कलेवा के लड्डूओं को एक डिब्बे में रखकर उसे दरबानों को देते हुए कहा, 'जब राजकुमार शिकार खेलकर वापस आवे तब पहले यह कलेवा का डब्बा दे देना, पीछे राजा का दिया हुआ देश-निकाले का हुक्म।' दरबानों ने कहा, 'मालकिन का हुक्म सिर-आंखों पर है।'

ठीक दोपहर के समय राजकुमार घोड़ा दौड़ाता हुआ घर आया। वह पसीने से लथपथ हो रहा था। घोड़े से कूदकर घोड़ा सईस को सौंपा और आप भीतर महल में जाने लगा। इसी समय दरबानों ने रोककर पहले रानी का दिया हुआ डब्बा राजकुमार को दिया और फिर राजा का हुक्म। देश-निकाले का हुक्म पढ़कर राजकुमार एकदम पीछे लौट पड़ा। और सईस से अपना घोड़ा लेकर उस पर सवार हो, चल दिया। राजकुमार घोड़ा दौड़ाता हुआ चला जा रहा था। उसने निश्चय किया कि जब इस राज्य की सीमा के बाहर निकल जाऊंगा, तब अन्न-जल ग्रहण करूंगा। रात-दिन चलते-चलते वह दूसरे दिन सबेरे किसी दूसरे राज्य के शहर में जा पहुंचा। उसे भूख लग रही थी। शहर के बाहर एक तालाब देखा तो उसके किनारे ठहर गया।

तालाब में स्नान करके कलेवा का डब्बा निकाला। एक लड्डू फोड़ा तो उसमें से बहुत-से जवाहर निकल पड़े। उसने क्रमशः तीनों लड्डू फोड़े। उन तीनों में जवाहर निकले। राजकुमार माता की ममता देखकर मुग्ध हो गया। उसने अनुमान लगाया, कि ये जवाहर तीन लाख से कम न होंगे। लड्डू खाकर राजकुमार शहर की सराय में जाकर ठहर गया। कुछ समय विश्राम करके वह शहर घूमने निकला। इधर-उधर घूमते-घूमते उसे एक अजीब बात दिखाई दी। एक चौराहे पर एक आलीशान मकान बना हुआ था। उसके बाहरी दरवाजे पर सफेद कपड़े का एक परदा पड़ा हुआ था। परदे के बाहर एक आदमी डुगडुगी पीटकर कह रहा था :

'यह अक्ल की दुकान है। जिसे अक्ल खरीदना हो खरीदें। सौ रुपये की एक बात, हजार रुपये की एक बात और लाख रुपए की एक बात बतलाई जाती है। जिसे जिस दर की जितनी अक्ल चाहिए, भीतर जाकर खरीद ले। सौदा हमेशा पेशगी कीमत लेकर किया जाता है।'

राजकुमार ने डुगडुगीवाले की बात ध्यान से सुनी। वह मन में सोचने लगा, मैंने विद्या सीखने में अनगिनत रुपया पानी का तरह बहाया है। आज इस अक्ल की दुकान की भी परख करनी चाहिए। देखें, इसका माल चोखा निकलता है या खोटा! इस समय मेरी जेब में तीन लाख के जवाहर हैं, यदि इनको अक्ल खरीदंने में खर्च न करूं तो ये किस काम में आएंगे? ऐसा सोच उसने डुगडुगीवाले से कहा, 'मैं आपकी दुकान से कुछ अक्ल खरीदना चाहता हूं। मुझे भीतर पहुंचा दो।'

डुगडुगीवाला राजकुमार को परदे के भीतर ले गया। वहां एक साफ-सुथरे कमरे में नीचे कीमती फर्श बिछा हुआ था। ऊपर सफेद कपड़े की छत बंधी हुई थी। मकान में कोई वस्तु नहीं थी। बिल्कुल खाली था। बीच में एक गलीचे पर तकिए के सहारे एक वृद्ध पुरुष बैठा हुआ था। उसकी बगल में एक तिजोरी रखी हुई थी। डुगडुगीवाला राजकुमार को उस वृद्ध मनुष्य के पास पहुंचाकर फिर बाहर चला गया।

बुड्ढे ने ग्राहक को अपने पास गलीचे पर बिठाकर कहा, 'क्या आप अक्ल खरीदने आए हैं? कहिए, कितने की बात बतलाऊं, हजार की या लाख की?'

राजकुमार ने उत्तर दिया, 'पहले नमूने के तौर पर एक लाख की एक बात बतलाइए।'

बुड्ढा बोला, 'इस दुकान का नियम है—पहले दाम, पीछे काम। पहले एक लाख रुपया जमा कीजिए, तब बात बतलाई जाएगी।'

राजकुमार ने एक लाख रुपये के जवाहरात बुड्ढे के सामने रख दिए।

बुड्ढे ने उन्हें अच्छी तरह परखकर तिजोरी में रखते हुए कहा, 'अच्छा सुनो, तुम्हें एक लाख की बात बतलाता हूं 'हजार काम छोड़कर समय पर भोजन करो।'

राजकुमार ने सोचा, यह तो बहुत साधारण-सी बात है। सभी जानते हैं। अब एक लाख रुपया और खर्च करके एक बात और सुननी चाहिए। यह सोच उसने एक लाख के जवाहरात सामने रखते हुए कहा, 'लीजिए, दूसरी बात की पेशगी कीमत जमा कीजिए और एक लाख की एक बात और बतला दीजिए।'

बुड्ढे ने जवाहरातों को परखकर तिजोरी में रखते हुए कहा, 'अच्छा, दूसरी बात सुनो। यह भी एक लाख की है। समय पड़े काम आएगी। 'किसी का व्यभिचार देखो तो उस पर परदा डाल दो।'

राजकुमार बोला, 'बहुत ठीक। अब मेरे पास एक लाख के जवाहरात और बचे हैं। इन्हें भी लीजिए और एक बात और बतला दीजिए।'

बुड्ढे ने उसी प्रकार तिजोरी में जवाहरात रखते हुए कहा, 'सुनो, यह बात सवा लाख रुपये से कम की नहीं है। पर तुम थोक खरीददार हो, तुम्हें एक लाख रुपये ही में बतलाए देता हूं। 'जो आदमी कान का कच्चा हो, उसकी नौकरी न करो।'

तीन लाख में तीन बातें सीखकर राजकुमार बाहर निकला। सराय में आया। राजकुमार ने सोचा, कुछ दिन इसी शहर में रहना चाहिए। सराय के ठीक दूसरी ओर

एक सेठ की दुकान थी। सेठजी का कारोबार बहुत बड़ा था। राज-दरबार में भी उनकी बड़ी इज्जत थी। नगर के दीवानी-फौजदारी के सभी बड़े मामले निपटाने का उन्हें अधिकार था।

राजकुमार को कुछ काम तो था ही नहीं, सराय में पड़े-पड़े सेठजी की दुकान का हाल देखा करता था। इसकी स्मरण-शक्ति बहुत तेज थी। एक बार जिस बात को सुन ले, कभी न भूलता था। इससे सेठजी के बहीखातों का हिसाब, उनके अनेक आसामियों के नामादि उसे जबानी याद हो गए थे।

एक दिन सेठजी दोपहर के समय एक आसामी को साथ लिए हुए दुकान पर आए। देखा, दुकान बंद है। दुकान के मुनीम-कारिंदा आदि सभी रोटी खाने अपने-अपने घर चले गए थे। आसामी कहता था कि आप इसी समय खाता बतलाकर मेरा हिसाब चुकता कर लीजिए। आध घंटे बाद मैं अपने देश को चला जाऊंगा। सेठजी को इतना मालूम था कि इस आसामी से बहुत रुपया लेना है। आज चला जाएगा तो फिर रुपया वसूल होना मुश्किल हो जाएगा। इस कारण वह बड़ी चिंता में थे। वह कभी दुकान का ताला टटोलते और कभी किसी दरबान को पुकारते थे।

राजकुमार सराय में बैठा-बैठा यह हाल देख रहा था। उसे दुकान की चाबी रखने का स्थान मालूम था। मुनीम दोपहर को नित्य उसी जगह पर चाबी रख जाता था। दुकान के कर्मचारियों में से जो पहले आता, वही उस स्थान से चाबी उठाकर दुकान खोल लेता था। राजकुमार ने सेठजी को लक्ष्य कर कहा, 'दुकान की चाबी अमुक खंभे की कड़ी के ऊपर एक छेद में रखी है। ऊपर हाथ डालकर टटोलो, मिल जाएगी।'

सेठजी के होश उड़ गए। वह सोचने लगे, इस परदेशी को दुकान की चाबी मालूम थी, इसने दुकान का माल उड़ा दिया होगा। बतलाए हुए स्थान से चाबी उठाकर सेठ ने दुकान खोली। भीतर जाकर बहियां देखने लगे। वहां सैकड़ों बहियां रखी हुई थीं। सेठजी के फरिश्ते भी नहीं जान सकते थे कि इस आसामी का हिसाब किस बही में है। सेठजी कभी यह बही उठाते, कभी वह। सेठ को झंझट में पड़ा देख सराय में से राजकुमार ने पूछा, 'सेठजी, आपके आसामी का क्या नाम है?' सेठ ने बतला दिया। राजकुमार बोला, 'आप व्यर्थ तकलीफ मत कीजिए, इस आसामी का खाता छत्तीस नंबर की हरी बही के अमुक पन्ने पर है। उठाकर देख लीजिए। इस पर आज मिती तक रु. 2524.87 पैसे बाकी निकलती है।'

सेठ ने सोचा, यह मुसाफिर क्या बकता है! इसे इतने पते की बात कैसे मालूम हुई! उन्होंने उस बही का वही पन्ना खोलकर देखा तो उस आसामी के नाम सचमुच उतना ही रुपया बाकी निकलता था। सेठजी सन्नाटे में आ गए। सोचन लगे, इतने पते की बात तो बिना खाता देखे मुनीम भी नहीं बता सकता, जिसके हाथ का खाता लिखा हुआ है। यह आदमी क्या जादू जानता है? उस आसामी से रुपये लेकर फारखती लिख दी। आसामी चला गया। सेठजी दुकान बंद करके सराय में मुसाफिर के पास पहुंचे। कहने लगे, 'भैया, आपको अनेक धन्यवाद। आपने मेरा काम आसान कर दिया। आप कहां से आए हैं? मुझे इस बात का बड़ा अचरज है कि आपको मेरी दुकान की इतनी पते की बातें कैसे मालूम हुईं? क्या आप कोई गुप्त विद्या जानते हैं?'

राजकुमार बोला, 'सेठजी, इसमें अचरज की कोई बात नहीं है। मैं कोई गुप्त विद्या नहीं जानता। बात यह है कि मैं एक बार जिस बात को सुन लेता हूं, उसे कभी नहीं भूलता। वह मुझे याद हो जाती है। आपकी दुकान के सामने बैठा-बैठा मैं सब बातें सुना करता हूं। इससे वे मुझे मालूम हैं।'

सेठजी ने मुसाफिर के रूप-रंग और बातों के ढंग से जान लिया कि यह कोई बड़ा आदमी है। उसकी बुद्धि की बानगी तो उसे मिल ही चुकी थी। उसने आग्रह करके उसे अपनी दुकान का बड़ा मुनीम बना दिया। सेठजी के आग्रह पर राजकुमार ने उसे मंजूर कर लिया। सोचा—कुछ दिन नौकरी करके देखना चाहिए। सेठ ने नए मुनीम के रहने के लिए एक अच्छा-सा मकान, कई नौकर-चाकर और बैठने को एक घोड़ा-गाड़ी दे दी।

सेठजी की दुकान के सब गुमाश्तों-कारिंदों आदि ने नए मुनीम की नियुक्ति का हाल सुना। सबके कान खड़े हो गए। वे आपस में कानाफूंसी करने लगे—बुरा हुआ, यह अजनबी आदमी, सुना है, बड़ा होशियार है। बिना देखे बही-खातों का हिसाब जबानी बता देता है। किसी ने कहा, 'अजी, वह जादू जानता है, जादू! यह जादू के बल से सबके पेट की बात जान लेता है। अब हम सबको अपने-अपने मुंह में मुछीका लगाना पड़ेगा।' इस प्रकार जितने मुंह उतनी ही बातें होने लगीं।

राजकुमार दुकान का काम संभालने लगा। उसकी चतुराई से थोड़े ही दिनों में दुकान की आमदनी दूनी बढ़ गई। सेठजी खुश हुए और नए मुनीम के वेतन में तरक्की कर दी।

सेठजी का एक गुमाश्ता सेठ की स्त्री से फंसा था। एक दिन सेठजी कहीं बाहर गए हुए थे। किसी खास काम के लिए राजकुमार उनके घर गया। वहां का हाल देखकर वह चकित हुआ। उसने देखा कि सेठानी गुमाश्ते को लिए हुए एक पलंग पर पड़ी हैं। दोनों के इस व्यभिचार को देखकर पहले तो उसे क्रोध आया। सोचा, इन दोनों को इस पाप-कर्म का मजा चखाऊं, परंतु तभी उसे एकाएक एक लाख वाली बात की याद आ गई। बुड्ढे ने बतलाया था कि किसी का व्यभिचार देखो तो उस पर परदा डाल दो। इस बात के लिए एक लाख रुपये खर्च किए हैं। आज मौका आ गया है तो उसे आजमाकर देखना चाहिए। ऐसा सोच राजकुमार ने अपने कंधे का दुशाला लेकर उन पर डाल दिया और तुरंत वहां से लौट आया। इस विषय में उसने किसी से कुछ नहीं कहा।

जब सेठानी और गुमाश्ते ने देखा कि हम दोनों के इस काम को बड़े मुनीम ने देख लिया है तब उनके प्राण सूख गए। सोचने लगे, हम दोनों की बदनामी तो होगी ही, पर सेठजी के कानों तक यह बात पहुंच गई तो ताज्जुब नहीं, जान से भी हाथ धोना पड़े।

सेठानी घबराकर बोली, 'अब क्या करना चाहिए? अपनी रक्षा का कोई उपाय है या नहीं?'

गुमाश्ता बोला, 'हां, एक उपाय है। देखो, मुनीम अपना दुशाला हमारे ऊपर डाल गए थे। इसे तुम अपने पास रख लो। रात को जब सेठजी घर आवें तब तुम उनके सामने रो-रोकर कहना कि तुमने यह कहां का परदेशी मुनीम रखा है। कल सूने में जब आप बाहर गए थे तब वह मेरी आबरू लेने आया था। वह मुझसे छेड़-छाड़ करने लगा तब मैंने उसका दुशाला छीन लिया। शोर-गुल होने पर मुश्किल से भागा। ऐसा कहकर खूब रोना और एक-दो दिन के लिए खाना-पीना छोड़ देना। तुम ऐसा करोगी तो काम बन जाएगा। मैं सेठजी के स्वभाव को अच्छी तरह जानता हूं। उनके ऊपर पहले जो रंग चढ़ जाता है, वही चढ़ा रहता है।' उपाय सुनकर सेठानी को धीरज हुआ।

रात को सेठजी आए तब सेठानी ने रो-रोकर अपने दोस्त की बतलाई हुई सब बातें नमक-मिर्च लगाकर सेठ को विस्तार के साथ कह-सुनाईं। अंत में वह दुशाला लाकर सेठ के सामने फेंककर कहा, 'तुम्हें विश्वास न हो तो लो, पहचान लो, यह किसका दुशाला है। जब तक उस पाजी को पूरी-पूरी सजा न मिल जाएगी, मैं अन्न-जल ग्रहण न करूंगी।'

सेठ ने सेठानी को धीरज बंधाते हुए कहा, 'कल उसे अपनी करनी का फल मिल जाएगा। तुम चिंता मत करो।' ऐसा कहकर सेठजी सो गए।

दूसरे दिन सवेरे सेठजी स्नान-पूजन से निबटकर दुकान पर पहुंचे। वहां जाते ही उन्होंने एक चिट्ठी नगर कोतवाल के नाम लिखी। चिट्ठी में लिखा था, 'जिस आदमी के हाथ मैं यह चिट्ठी भेज रहा हूं, उसने एक भयंकर अपराध किया है। जल्लाद के द्वारा फौरन उसका सिर कटवा दो और कटा हुआ सिर मेरे पास भेजो।' चिट्ठी लिखकर लिफाफे में बंद की और उस पर अपनी मुहर लगा दी। फिर बड़े मुनीम को बुलाकर कहा, 'यह बहुत जरूरी चिट्ठी है। इसको आप स्वयं अपने हाथ से इसी समय शहर कोतवाल को दे आइए।' मुनीम ने चिट्ठी लेते हुए कहा, 'बहुत अच्छा, मैं अभी जाता हूं।'

दोपहर हो चुकी थी, मुनीम-कारिंदा सब दुकान बंद करके रोटी खाने अपने-अपने घर चले गए। बड़े

मुनीम ने भी गाड़ी जुतवाई और उस पर जा बैठा। सोचा, पहले मालिक के हुक्म की तामील कर आना चाहिए, खाने-पीने का काम फिर करेंगे।

कोतवाली को जाने का जो रास्ता था, उसी पर एक दूसरे सेठ का मकान था। उसके यहां लड़की की शादी थी। नगर के सभी प्रतिष्ठित आदमियों और सरकारी ओहदेदारों को आज उसके यहां निमंत्रण था। मुनीमजी भी निमंत्रित थे। भोजन का समय हो गया था। सब आदमी जुड़ गए थे। इसी समय मुनीमजी की गाड़ी उनके दरवाजे से निकली।

सेठ ने गाड़ी को रोककर कहा, 'कहां जाते हो? भोजन का समय हो गया है। सब लोग आप ही की राह देख रहे हैं। पहले भोजन कर लीजिए, फिर कहीं जाइए।'

मुनीम बोला, 'बहुत जरूरी काम है। मालिक की यह चिट्ठी इसी समय कोतवाल के पास पहुंचानी है। आप लोग भोजन कीजिए। मैं अभी चिट्ठी देकर आता हूं। फिर भोजन कर लूंगा।'

और बहुत-से प्रतिष्ठित लोग भी गाड़ी के पास पहुंचकर कहने लगे, 'अजी, ऐसा क्या जरूरी काम है? खाना खाकर चले जाना। इतना मान-मनौवल क्यों कराते हो?'

यहां पर वह गुमाश्ता भी मौजूद था, जो सेठानी से फंसा था। सेठजी बोले, 'अच्छा, एक काम करो। आप गाड़ी से उतर आइए। आपकी यह जरूरी चिट्ठी तुम्हारा यह गुमाश्ता कोतवाल को दे आएगा। आप जब मौके पर आ गए हैं तो अब आपको तो मैं नहीं छोड़ सकता हूं।' गुमाश्ते ने आगे आकर कहा, 'मुनीमजी, सब लोग कह रहे हैं तो आप गाड़ी से उतर आइए, और सबके साथ भोजन कीजिए। चिट्ठी मुझे दीजिए। मैं शहर-कोतवाल को इसी समय दिए आता हूं। जब ताबेदार मौजूद है तब आपको तकलीफ करने की क्या जरूरत है?'

राजकुमार को उसी समय बुड्ढे की यह बात याद आ गई कि 'हजार काम छोड़कर समय पर भोजन करो।' उसने सोचा, आज इसकी भी परीक्षा कर देखनी चाहिए। उसने अपनी जेब से चिट्ठी निकालकर गुमाश्ते को दे दी और आप गाड़ी से उतरकर सबके साथ भोजन करने बैठ गया। गुमाश्ता मुनीमजी की गाड़ी में बैठकर कोतवाल के पास चला गया।

गुमाश्ते ने शहर-कोतवाल के पास जाकर सेठजी की चिट्ठी दी। चिट्ठी पढ़ते ही कोतवाल ने सिपाहियों को हुक्म दिया, 'इसी आदमी को पकड़ लो।' फिर जल्लाद को बुलाकर कहा, 'इसी आदमी का सिर काट लाओ।' जल्लाद गुमाश्ते का सिर काट लाया। कोतवाल ने उस कटे हुए सिर को एक रूमाल से लपेटकर सवार को दिया। कहा, 'जाओ, इसे अमुक सेठ को दे आओ।' सवार कटा हुआ सिर लेकर चला।

यहां मुनीमजी भोजन करके उठे थे कि इतने में कटा हुआ सिर लिए सवार उधर से निकला। सवार ने सेठजी के बड़े मुनीम को देखकर सलाम करके कहा, 'मुनीमजी, कोतवाल साहब ने सेठजी के पास यह सिर भेजा है। आप पावती लिखकर सिर ले लीजिए।' मुनीम ने पावती लिखकर सवार को दी और सिर ले लिया।

राजकुमार तुरंत सब मामला समझ गया। वह मन-ही-मन कहने लगा—आज बड़ी कुशल हुई। सेठजी ने तो आज मेरा सिर कटवा ही दिया था, पर परमेश्वर ने बचा लिया। बुड्ढे की बात सच निकली। उसकी शिक्षा पर चलने से आज मेरी जान बच गई। ऐसा सोचते हुए वह सिर लेकर सेठजी के घर आया।

सेठजी को देखकर मुनीम बोला, 'लीजिए, यह सिर कोतवाल साहब ने भेजा है।' ऐसा कह उसने वह कटा हुआ सिर उसके सामने खोलकर रख दिया। सेठजी भौंचक्के-से होकर कभी सिर की ओर और कभी मुनीम की ओर देखने लगे। सोचने लगे, यह क्या हुआ? किसका सिर कटवाना चाहा था और किसका कट गया?

सेठजी की यह दशा देखकर मुनीम बोला, 'सेठजी, अचरज मत कीजिए, ईश्वर के राज्य में इंसाफ ही होता है। आपने तो बिना विचारे मेरा सिर कटवा ही लिया था। परंतु ईश्वर की बड़ी लंबी भुजाएं हैं। आखिर

वही हुआ, जो ईश्वर को मंजूर था। आप गम मत कीजिए। पापी को पाप का उचित फल मिल गया।' इतना कहकर उस दिन की सब घटना सेठजी को विस्तार से कह सुनाई। साथ ही, अपने देश-निकाले से लेकर नौकरी करने तक का कुल किस्सा सुनाकर कहा, 'मैंने अक्ल की दुकान से तीन लाख में तीन बातें खरीदी थीं। आपके यहां नौकरी करते समय मुझे इन तीनों बातों की सचाई मालूम हो गई। मैंने ये बातें एक-एक लाख रुपए में खरीदी थीं, पर सच पूछा जाए तो उनमें से एक बात कई लाख रुपयों की निकली। अब मैं आपकी नौकरी नहीं करूंगा। आप कान के कच्चे हैं। सेठानी के झूठ-मूठ कहने पर बिना विचारे आप मेरी गर्दन उतरवाने को तैयार हो गए। आज ही मैं आपकी नौकरी छोड़कर अपने देश को जाता हूं।'

सेठ ने माफी मांगकर कुछ दिन और काम करने को कहा, परंतु राजकुमार नहीं माना। वह अपने देश को चला गया।

❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

सम-सामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

स्व. माता-पिता बच्छराजजी जीवजीदेवी खटेड़

स्व. सुपुत्र विवेक खटेड़

With Best Compliments From :

Rajendra Khater (Taranagar)
Mobile : 9845023851

Ashok Plastics

157/35, 3rd Main Road, Industrial Town
Rajajinagar, Bangalore 560044
Phone : 3350804

MAHABIR STORES
Kumbarpet, Bangalore 560002
Phone : 22239997

Residence:
7, Meghdoot Apartment, 3rd Floor
Lakshmi Road, Shantinagar, Bangalore-27
Phone : 22239413, 22273640

जैन भारती, जनवरी, 2005 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/03-05
'Licensed to Post without Pre-Payment' Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004

INA
Authorised Distributor

It has been our endeavor to get you the quality products & services at better price level and the marketing arrangement we have with INA and FAG on All India basis gives the chance to further that, providing better value for your money.

FAG

Premier (India) Bearings Ltd.
Kolkata

We congratulate you for being positioned within FAG as

Star Distributor - 2004

in view of your business contracted for year 2004.

We wish you all success in accomplishing greater strides.

FAG Kugelfisher AG

Star Distributor

- **FAG Star Distributor**
- **FAG Industrial Distributor**
- **INA Authorised Distributor**

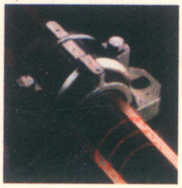

Premier (India) Bearings Ltd.

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata - 700 001. Phone : 22200640/22201926 Fax : 22485745 E-mail : pibl@vsnl.com

Authorisation is valid for supplies on all India basis :

Chandigarh Office :
SCO 41, 2nd Floor, Sector-20-C
Chandigarh - 160 020
Phone : 272 2287
Fax : (0172) 272 2287
E-mail : pibchd@indiatimes.com

Chennai Office :
83 (Old No. 41), Armenian Street
Chennai - 600 001
Phone : 2524 6911/6892/3727
Fax : (044) 2522 8612
E-mail : piblchennai@vsnl.com

Delhi Office :
2423/29, Surekha Building,
G. B. Road, 3rd Floor, Delhi - 6
Phone : 2321 7109,
Fax : (011) 2321 0276
E-mail : pibdel@indiatimes.com

Ludhiana Office :
BXXI 14651, Dholewal Chowk
Ludhiana - 141 003, Punjab
Phone : 2547524/525
Fax : (0161) 2547526
E-mail : rajvinder@pibldh.com

Mumbai Office :
Vashi Plaza, Ground Floor, Sector 17,
Navi Mumbai - 400 705
Phone : 2789 4595/6897
Fax : (022) 2789 6816
E-mail : pibvashi@bom8.vsnl.net.in

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।